॥ श्रीहरिः ॥

861

सत्संग-मुक्ताहार

स्वामी रामसुखदास

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

सत्संग-मुक्ताहार

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

स्वामी रामसुखदास

॥ श्रीहरिः ॥

नम्र निवेदन

सत्संग-प्रेमी सज्जनोंकी सेवामें यह 'सत्संग-मुक्ताहार' पुस्तक प्रस्तुत की जा रही है। इस पुस्तकमें श्रद्धेय श्रीस्वामीजी महाराजके नौ लेखोंका संग्रह है। पाठकोंसे प्रार्थना है कि वे इस मुक्ताहार (मोतियोंकी माला)-को हृदयमें धारण करें, हृदयंगम करें और वास्तविक तत्त्वका अनुभव करके अपने मानव-जीवनको सफल बनायें।

—**प्रकाशक**

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

॥ श्रीहरिः ॥

१. वास्तविक तत्त्वका अनुभव

है सो सुन्दर है सदा, नहिं सो सुन्दर नाहिं।
नहिं सो परगट देखिये, है सो दीखे नाहिं॥

कितनी विचित्र बात है कि परमात्मा हैं, पर वे दीखते नहीं और संसार नहीं है, पर वह दीखता है! इसका कारण यह है कि हमारे पास देखनेकी जो शक्ति है, वह सब संसारकी है। जिस धातुका संसार है, उसी धातुकी हमारी इन्द्रियाँ और अन्तःकरण (मन-बुद्धि) हैं। इसलिये उनसे संसार ही दीखेगा, परमात्मा कैसे दीखेंगे? इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि प्रकृतिके अंश हैं। प्रकृतिके अंशद्वारा प्रकृतिसे अतीत तत्त्वको कैसे देखा जा सकता है? प्रकृतिसे अतीत परमात्मतत्त्वको तो अपने-आपसे अर्थात् स्वयंसे ही देखा जा सकता है; क्योंकि स्वयं परमात्माका ही अंश है। तात्पर्य है कि शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि तथा संसार तत्त्वसे एक (नाशवान्, जड़) हैं और स्वयं तथा परमात्मा तत्त्वसे एक (अविनाशी, चेतन) हैं। विचार करें कि क्या शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि और परमात्माकी तात्त्विक एकता है? कदापि नहीं। फिर उनके द्वारा परमात्माको कैसे देखा अथवा प्राप्त किया जा सकता है? असम्भव बात है। अतः हम स्वयंसे देखेंगे तो परमात्मा दीखेंगे और शरीरसे देखेंगे तो संसार दीखेगा। रहनेवालेसे रहनेवाला ही दीखेगा और बदलनेवालेसे बदलनेवाला ही दीखेगा।

स्वयंसे परमात्मा कैसे दीखते हैं—इसपर विचार करें। प्रत्येक मनुष्यको 'मैं हूँ'—इस रूपमें अपनी सत्ता (होनेपन)-

का अनुभव होता है। 'मैं हूँ'—इसमें 'मैं' प्रकृतिका अंश है और 'हूँ' परमात्माका अंश है। अतः 'मैं' की 'नहीं' के साथ और 'हूँ' की 'है' के साथ एकता है। 'हूँ' और 'है' का भेद 'मैं'-पनके कारण ही है। अगर 'मैं'-पन न रहे तो 'हूँ' नहीं रहेगा, प्रत्युत 'है' ही रहेगा। तात्पर्य यह हुआ कि स्वयंमें जो सत्ता अर्थात् अपना होनापन है, वह वास्तवमें परमात्माका ही है। वह होनापन सब जगह समान रीतिसे स्वतः-स्वाभाविक परिपूर्ण है।

हमसे यह भूल होती है कि हम परमात्मामें संसारको देखते हैं, जबकि देखना चाहिये संसारमें परमात्माको। 'नहीं' में 'है' को देखना तो सही है, पर 'है' में 'नहीं' को देखना गलती है; क्योंकि परमात्मा हैं और संसार नहीं है। इसलिये गीतामें आया है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥

(१३। २७)

'जो नष्ट होते हुए सम्पूर्ण प्राणियोंमें परमात्माको नाशरहित और समरूपसे स्थित देखता है, वही वास्तवमें सही देखता है।'

ऐसा कोई क्षण नहीं है, जिसमें संसार न बदलता हो। बदलना-ही-बदलना इसका स्वरूप है। परन्तु परमात्मा नहीं बदलनेवाले हैं। संसार रहे अथवा नष्ट हो जाय, वे नित्य-निरन्तर ज्यों-के-त्यों ही रहते हैं, उनमें कोई फर्क नहीं पड़ता। संसार कभी एक क्षण भी टिकता नहीं और परमात्मतत्त्व कभी एक क्षण भी मिटता नहीं। इसलिये जो बदलनेवाले नाशवान् संसारको न देखकर निरन्तर रहनेवाले अविनाशी परमात्माको देखता है, वही सही देखता है—'**विनश्यत्स्वविनश्यन्तं**

यः पश्यति स पश्यति'। परन्तु जो परमात्माको न देखकर संसारको देखता है, वह सही नहीं देखता—

योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा॥

(महा०, उद्योग० ४२। ३७)

'जो अन्य प्रकारका (अविनाशी) होते हुए भी आत्माको अन्य प्रकारका (विनाशी शरीर) मानता है, उस आत्मघाती चोरने कौन-सा पाप नहीं किया अर्थात् सभी पाप कर लिये।'

जैसे, शरीरके बदलनेपर हम अपना बदलना नहीं देखते। बालकपनसे लेकर आजतक शरीर कितना बदल गया, पर हम कहते हैं कि मैं वही हूँ, जो बालकपनमें था। शरीर बदल गया, स्थान बदल गया, समय बदल गया, वस्तुएँ बदल गयीं, साथी बदल गये, परिस्थिति बदल गयी, अवस्था बदल गयी, क्रियाएँ बदल गयीं, पर सब कुछ बदलनेपर भी स्वयं नहीं बदला। देश, काल आदिमें फर्क पड़ा, पर अपनेमें फर्क नहीं पड़ा। ऐसे ही संसार कितना ही बदल जाय, परमात्मा वैसे-के-वैसे ही रहते हैं। वस्तुभेद, व्यक्तिभेद और क्रियाभेद होनेपर भी तत्त्वभेद नहीं होता। हमारी दृष्टि उस परमात्मतत्त्वकी तरफ ही रहनी चाहिये। जैसे, कोई व्यापारी कोयला खरीदता और बेचता है, पर उसकी दृष्टि पैसोंपर ही रहती है कि इतने पैसे आ गये! व्यापारकी चीजें तो बदल जाती हैं, पर पैसा वही रहता है। ऐसे ही सब व्यवहार करते हुए भी हमारी दृष्टि परमात्मापर ही रहनी चाहिये।

यह सिद्धान्त है कि जो आदि-अन्तमें नहीं होता, वह वर्तमानमें भी नहीं होता और जो आदि-अन्तमें भी होता है, वह वर्तमानमें भी होता है। संसार पहले भी नहीं था और

पीछे भी नहीं रहेगा, इसलिये संसार नहीं है। परमात्मा पहले भी थे और पीछे भी रहेंगे, इसलिये परमात्मा ही हैं। संसारको सत्यरूपसे देखनेवाले कहते हैं कि परमात्मा हैं ही नहीं और परमात्माको सत्यरूपसे देखनेवाले कहते हैं कि संसार है ही नहीं! संसारमें जो 'है'-पना दीखता है, वह उस परमात्माकी ही झलक है। जैसे रस्सीमें साँप दीखता है तो वास्तवमें 'है'-पना रस्सीमें है, साँपमें नहीं, पर रस्सीका 'है'-पना साँपमें दीखता है। ऐसे ही 'है'-पना परमात्मामें है, संसारमें नहीं है, पर परमात्माका 'है'-पना संसारमें संसाररूपसे दीखता है। जैसे चनेका आटा फीका होता है, पर जब उसमें चीनी पड़ जाती है, तब उससे बनी बूँदी मीठी लगती है। वह मिठास वास्तवमें चीनीकी ही है, बेसनकी नहीं। ऐसे ही संसारमें जो 'है'-पना दीखता है, वह संसारका न होकर परमात्माका ही है।

अगर भक्तियोगकी दृष्टिसे देखें तो सब संसार परमात्मस्वरूप ही है! भगवान् कहते हैं—

'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति'

(गीता ७।७)

'मेरे सिवाय इस जगत्का दूसरा कोई किंचिन्मात्र भी (कारण तथा कार्य) नहीं है।'

'वासुदेवः सर्वम्'

(गीता ७।१९)

'सब कुछ परमात्मा ही हैं।'

'सदसच्चाहम्'

(गीता ९।१९)

'सत् और असत् भी मैं ही हूँ।'

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा॥

(श्रीमद्भा० ११।१३।२४)

'मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे जो कुछ (शब्दादि विषय) ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ। अतः मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं है—यह सिद्धान्त आप विचारपूर्वक शीघ्र समझ लें और स्वीकार करके अनुभव कर लें।'

परमात्माके विषयमें द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि अनेक मतभेद हैं, पर 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—यह सर्वोपरि सिद्धान्त है। सम्पूर्ण मत इसके अन्तर्गत आ जाते हैं। साधकोंके मनमें प्रायः यह भाव रहता है कि कोई परमात्माकी सार बात, तात्त्विक बात, बढ़िया बात बता दे तो हम जल्दी परमात्मप्राप्ति कर लें। वह सार बात, तात्त्विक बात, बढ़िया बात, सबका खास निचोड़, निष्कर्ष यही है कि केवल परमात्मा-ही-परमात्मा हैं। 'मैं' भी परमात्मा हैं, 'तू' भी परमात्मा हैं, 'यह' भी परमात्मा हैं और 'वह' भी परमात्मा हैं अर्थात् परमात्माके सिवाय कुछ नहीं है।

अब प्रश्न होता है कि सब कुछ परमात्मा कैसे हुए? एक अपरा प्रकृति है, एक परा प्रकृति है और एक परा-अपराके मालिक परमात्मा हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहम्—यह आठ प्रकारकी अपरा (परिवर्तनशील) प्रकृति है। जीव परा (अपरिवर्तनशील) प्रकृति है। अपरा और परा—ये दोनों प्रकृतियाँ परमात्माका स्वभाव होनेसे परमात्मासे अभिन्न हैं अर्थात् इन दोनोंकी परमात्मासे अलग स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। शरीरकी अपरा प्रकृतिके साथ और शरीरीकी परा प्रकृतिके साथ एकता है। इस प्रकार परमात्मासे अलग किंचिन्मात्र

भी कोई सत्ता न होनेसे स्थूल-से-स्थूल पृथ्वीसे लेकर सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अहम्‌तक सब कुछ केवल परमात्मा ही हुए। इसलिये गीतामें अपरा, परा और वासुदेव अथवा क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम—इन तीनोंके वर्णनका तात्पर्य इनको एक बतानेमें ही है, तीन बतानेमें नहीं है।

अब प्रश्न होता है कि 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—इसका अनुभव कैसे हो? जगत्‌की स्वतन्त्र सत्ता न होते हुए भी जीवने जगत्‌को स्वतन्त्र सत्ता दी है—'**जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७।५)। जगत्‌को सत्ता देनेमें मुख्य कारण है—सुखभोगबुद्धि। जीवकी सुखभोगबुद्धिके कारण ही परमात्मा जीवको जड़ जगत्-रूपसे दीखने लग गये और जीव स्वयं भी जगत्-रूप हो गया*। अतः परमात्मतत्त्वके अनुभवमें सुखभोगबुद्धि ही खास बाधक है।

अब प्रश्न होता है कि सुखभोगबुद्धि कैसे नष्ट हो? इसको मिटानेके तीन मुख्य साधन हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। कर्मयोगके द्वारा सुखभोगबुद्धि सुगमतासे मिट सकती है। सम्पूर्ण सृष्टि पांचभौतिक होनेसे एक ही है। जैसे एक ही शरीरके अनेक अंग होते हैं, ऐसे ही सम्पूर्ण शरीर एक ही सृष्टिके अनेक अंग हैं। अतः जैसे मनुष्य अपने शरीरके सभी अंगोंसे अलग-अलग यथायोग्य व्यवहार करते हुए भी सभी अंगोंका समान रूपसे सुख और हित चाहता है, किसी भी अंगका दुःख और अहित नहीं चाहता, ऐसे ही साधकको सभी प्राणियोंसे यथायोग्य व्यवहार

---

* त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥ (गीता ७।१३)

'इन तीनों गुणरूप भावोंसे मोहित यह सम्पूर्ण जगत् (प्राणिमात्र) इन गुणोंसे अतीत अविनाशी मुझे नहीं जानता।'

करते हुए भी समान रूपसे सबके सुख और हितका भाव रखना चाहिये और किसीका भी दुःख और अहित नहीं चाहना चाहिये'।* जैसे माँके हृदयमें अपना दुःख दूर करनेकी अपेक्षा भी बालकका दुःख दूर करनेका विशेष भाव रहता है, ऐसे ही साधकका भी दूसरेका दुःख दूर करनेका विशेष भाव होना चाहिये। दूसरोंको सुख देनेका भाव होनेसे अपनी सुखभोगबुद्धि स्वतः मिटती है।

ज्ञानयोगमें विवेकपूर्वक विचार करनेसे सुखभोगबुद्धिका नाश हो जाता है। जैसे, प्यासकी जलसे अलग स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। अर्थात् प्यास जलरूप ही है, ऐसे ही सुखासक्तिकी भी संसारसे अलग स्वतन्त्र सत्ता नहीं है अर्थात् संसारकी सुखासक्ति या सुखभोगबुद्धि संसाररूप ही है। जैसे मनुष्यको जलकी प्यास दुःख देती है, जल दुःख नहीं देता, ऐसे ही संसारकी सुखासक्ति ही दुःख देनेवाली है, संसार दुःख नहीं देता। अतः सुखाशक्ति ही सम्पूर्ण दुःखोंका, अनर्थोंका, अवगुणोंका, पापोंका मुख्य कारण है—ऐसा विचार करनेसे संसारमें सुखभोगबुद्धि मिट जाती है।

भक्तियोगमें साधक 'सब कुछ भगवान् ही हैं'—इसको दृढ़तासे मान ले कि वास्तवमें बात यही है। माननेके बाद अनुभव स्वतः हो जायगा। अनुभव न होनेका दुःख जितना तेज होगा, उतनी ही जल्दी अनुभव होगा। जब सब रूपोंमें भगवान् ही हैं तो फिर वे मेरेको क्यों नहीं दीखते? अगर माँ मौजूद है तो फिर

---

* आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ (गीता ६।३२)

'हे अर्जुन! जो अपने शरीरकी उपमासे सब जगह अपनेको समान देखता है और सुख अथवा दुःखको भी समान देखता है, वह परम योगी माना गया है।'

वह मेरेको गोदीमें क्यों नहीं लेती?—इस प्रकार छटपटाहट लगे तो बहुत जल्दी सुखभोगबुद्धिका नाश होकर परमात्माका अनुभव हो जायगा। परन्तु संसारके सम्बन्धसे जितना सुख लिया है, उससे अधिकमात्रामें सुखभोगबुद्धिके न मिटनेका दुःख होना चाहिये।

अगर साधकमें सुखभोगबुद्धिको मिटानेकी उत्कट अभिलाषा हो, पर उसको मिटानेमें अपनेमें निर्बलताका अनुभव हो और साथ-साथ यह विश्वास हो कि सर्वसमर्थ भगवान्‌की कृपाशक्तिसे ही मेरी यह निर्बलता दूर हो सकती है तो ऐसी स्थितिमें वह भक्त होकर भगवान्‌के परायण हो जाता है। भगवान्‌के परायण होनेपर फिर स्वतः भीतरसे प्रार्थना, पुकार निकलती है, जिससे सुगमतापूर्वक सुखभोगबुद्धि मिट जाती है और एक परमात्माके सिवाय कुछ नहीं है—इसका अनुभव हो जाता है।

२. स्वतःप्राप्त परमात्मतत्त्व

परमात्मतत्त्व नित्य-निरन्तर ज्यों-का-त्यों विद्यमान है। नित्य-निरन्तर विद्यमान कहना भी वास्तवमें कालकी सत्ताको लेकर है। वास्तवमें कालकी सत्ता नहीं है। सत्ता केवल परमात्मतत्त्वकी ही है। उसकी सत्तासे ही जो असत् ('नहीं') है, उस शरीर-संसारकी सत्ता दीख रही है—

जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥

(मानस, बाल० ११७।४)

बिना विचार किये ऐसा दीखता है कि हम जी रहे हैं अर्थात् शरीर बढ़ रहा है, पर थोड़ा विचार करनेपर बिलकुल प्रत्यक्ष दीखता है कि शरीर निरन्तर मर रहा है। वास्तवमें मर रहा नहीं है, प्रत्युत केवल मरना ही है! गीतामें आया है—'**नासतो विद्यते भावः**' (२।१६) 'असत्‌की सत्ता विद्यमान नहीं है।' जैसे, वृक्ष उत्पन्न हुआ दीखता है तो वास्तवमें उत्पन्न नहीं हुआ है। बीज मर गया, उसीको उत्पन्न होना कह दिया। तात्पर्य है कि पहली अवस्थाको छोड़ना मृत्यु है और दूसरी अवस्थाको प्राप्त होना जन्म है। कोई भी अवस्था नित्य नहीं रहती। अतः जन्म-मरणके प्रवाहमें केवल मरना-ही-मरना मुख्य है। वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, सामर्थ्य, योग्यता आदिके रूपमें जो संसार दीख रहा है, उसका नित्य-निरन्तर वियोग (अभाव) हो रहा है। यह वियोग एक क्षण भी बन्द नहीं होता। जैसे गंगाजीका प्रवाह निरन्तर समुद्रमें जा रहा है, ऐसे ही संसारका प्रवाह निरन्तर अभावमें, प्रलयमें जा रहा है। सब शरीर निरन्तर मौतमें जा रहे हैं। हमारे कहनेमें तो

देरी लगती है, पर मरनेमें देरी नहीं लगती! इसलिये संसारको मौतका सागर कहा है—'**मृत्युसंसारसागरात्**' (गीता १२।७)। इस मरने-ही-मरनेके भीतर 'है' रूपसे एक अमर तत्त्व स्वतः-स्वाभाविक विद्यमान है, जिसका कभी किसी अवस्थामें अभाव नहीं होता—'**नाभावो विद्यते सतः**' (गीता २।१६)। उसी अमर तत्त्वको हमें प्राप्त करना है और मरनेसे अलग होना है। वास्तवमें जिसको प्राप्त करना है, वह हमें प्राप्त ही है और जिससे अलग होना है, वह अलग ही है।

जो 'नहीं' है, उससे अलग हो जानेका नाम भी योग है—'**तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्**' (गीता ६।२३) और जो 'है', उसमें तल्लीन हो जानेका नाम भी योग है—'**समत्वं योग उच्यते**' (गीता २।४८)। भगवान् कहते हैं कि तू मेरी कृपासे सम्पूर्ण विघ्नोंको तर जायगा—'**मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि**' (गीता १८।५८) और मेरी कृपासे शाश्वत अविनाशी पदको प्राप्त हो जायगा—'**मतप्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्**' (गीता १८।५६)। अतः तर जाना भी योग है और प्राप्त हो जाना भी योग है। इसमें केवल नाशवान् सुखका आकर्षण ही बाधक है। सुख तो रहेगा नहीं, पर उसकी लोलुपता हमारा पतन कर देगी। इस सुख-लोलुपताका हमें त्याग करना है। फिर तत्त्वमें हमारी स्वतः-स्वाभाविक स्थिति है।

परमात्मा सबमें स्वतः-स्वाभाविक परिपूर्ण हैं। वे नित्य प्राप्त हैं, स्वतः प्राप्त हैं, स्वाभाविक प्राप्त हैं। उनको प्राप्त करनेमें उद्योग, परिश्रम, पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता। उद्योग संसारकी वस्तु प्राप्त करनेमें करना पड़ता है। परमात्माकी प्राप्तिके लिये उद्योग करना पड़ेगा, परिश्रम करना पड़ेगा,

कठिन तपस्या करनी पड़ेगी, समय लगाना पड़ेगा, सिद्धि करनी पड़ेगी, किसीसे पूछना पड़ेगा, पढ़ना पड़ेगा—इस तरहकी बहुत-सी बाधाएँ हमारी बनायी हुई हैं, जिनके कारण हम परमात्मप्राप्तिसे वंचित रहते हैं। सांसारिक वस्तुकी प्राप्तिमें तो भविष्य होता है, पर जो नित्यप्राप्त है, स्वतः-स्वाभाविक है, उसकी प्राप्तिमें भविष्य कैसे? जो प्राप्त नहीं है, उसको प्राप्त मान लिया—यही नित्यप्राप्तकी प्राप्तिमें बाधा है! यही नित्यप्राप्तके न दीखनेमें आवरण (परदा) है!

है सो सुन्दर है सदा, नहिं सो सुन्दर नाहिं।
नहिं सो परगट देखिये, है सो दीखे नाहिं॥

वास्तवमें 'है' नहीं ढकता, हमारी दृष्टि ही ढकी जाती है। 'नहीं' की सत्ताको लेकर 'है' को नहीं मानना ही आवरण है। 'नहीं' को नहीं माननेसे 'है' का अनुभव स्वतः होता है।

जो निरन्तर जा रहा है, उस 'नहीं' को देखनेसे 'है' में हमारी स्थिति स्वतः सिद्ध होती है, करनी नहीं पड़ती। नाशवान्‌को देखनेसे अविनाशीमें हमारी स्थिति स्वतः-स्वाभाविक है। नाशवान्‌को हम नाशवान् जानते तो हैं, पर इस जानकारीको हम महत्त्व नहीं देते। अब केवल इस जानकारीको महत्त्व देना है। जैसे, एक आदमी खड़ा है और उसके सामनेसे कई आदमी चले गये। किसीने पूछा कि कितने आदमी चले गये तो उसने कहा कि एक-एक करके दस आदमी चले गये। इससे सिद्ध हुआ कि 'दस आदमी चले गये'—ऐसा कहनेवाला नहीं गया, वहीं खड़ा रहा। अगर वह भी चला जाता तो 'दस आदमी चले गये—ऐसा कौन कहता? ऐसे ही संसार प्रतिक्षण जा रहा है—ऐसा जाननेवाला कहीं गया नहीं। 'नहीं' का ज्ञान 'है' से ही होता है। 'नहीं' से 'नहीं' का ज्ञान नहीं

होता। अतः शरीर-संसार निरन्तर जा रहे हैं—इस तरफ दृष्टि रहनेपर बिना विचार किये स्वरूपमें स्थिति स्वतः है। इसमें श्रवण, मनन, निदिध्यासन, समाधि आदिकी क्या जरूरत है? देश नहीं है, काल नहीं है, वस्तु नहीं है, व्यक्ति नहीं है, परिस्थिति नहीं है, अवस्था नहीं है, घटना नहीं है, क्रिया नहीं है—इधर दृष्टि होनेपर स्वतः समाधि है। तात्पर्य है कि अगर 'है' को देखना हो तो 'नहीं' को देखो। 'नहीं' को देखते-देखते 'है' में स्थित स्वतः होती है।

एक मार्मिक बात है कि 'है' को देखनेसे शुद्ध 'है' नहीं दीखेगा, पर 'नहीं' को 'नहीं'-रूपसे देखनेपर शुद्ध 'है' दीखेगा! कारण कि 'है' को देखनेमें मन-बुद्धि लगायेंगे, वृत्ति लगायेंगे तो 'है' के साथ 'नहीं' (वृत्ति) भी मिला रहेगा। परन्तु 'नहीं' को 'नहीं'-रूपसे देखनेपर वृत्ति भी 'नहीं' में चली जायगी और शुद्ध 'है' शेष रह जायगा; जैसे—कूड़ा-करकट दूर करनेपर उसके साथ झाड़ूका भी त्याग हो जाता है और मकान शेष रह जाता है। तात्पर्य है कि 'परमात्मा सबमें परिपूर्ण हैं'—इसका मनसे चिन्तन करनेपर, बुद्धिसे निश्चय करनेपर वृत्तिके साथ हमारा सम्बन्ध बना रहेगा। परन्तु 'संसारका प्रतिक्षण वियोग हो रहा है'—इस प्रकार संसारको अभावरूपसे देखनेपर संसार और वृत्ति—दोनोंसे सम्बन्ध—विच्छेद हो जायगा और भावरूप शुद्ध परमात्मतत्त्व स्वतः शेष रह जायगा। इसलिये परमात्माकी प्राप्तिमें निषेधात्मक साधन मुख्य है; क्योंकि मूलमें अभावरूप संसारका निषेध ही करना है। संसारका निषेध कर दें तो नित्यप्राप्त परमात्माका अनुभव स्वतः-स्वाभाविक हो जायगा।

वास्तवमें ज्ञान 'नहीं' का ही होता है। 'है' का ज्ञान नहीं

होता; क्योंकि वह तो स्वतः रहता है। 'नहीं' को 'है' मान लिया—यह अज्ञान है और 'नहीं' को 'नहीं' जान लिया—यह ज्ञान है। ज्ञान होते ही 'नहीं' मिट जाता है और 'है' रह जाता है। इसलिये साधकमें हर समय स्वाभाविक ही यह जागृति रहनी चाहिये, चेत रहना चाहिये कि संसार नहीं है। जैसे, गृहस्थोंके घरमें लड़के भी पैदा होते हैं और लड़कियाँ भी। लड़केके पैदा होनेपर यह ज्ञान स्वतः रहता है कि यह इस घरमें रहनेवाला है और लड़कीके पैदा होनेपर यह ज्ञान स्वतः रहता है कि यह इस घरमें रहनेवाली नहीं है। इस ज्ञानके लिये अभ्यास नहीं करना पड़ता। इसी तरह शरीर और संसार प्रतिक्षण जा रहे हैं—यह ज्ञान स्वतः रहना चाहिये।

जैसे भीतरमें यह बात बैठी हुई है कि लड़की अपने घर जायगी, यहाँ नहीं रहेगी, ऐसे ही भीतरमें यह बात बैठनी चाहिये कि संसार तो जायगा, यहाँ नहीं रहेगा। जानेवालेसे क्या मोह करें? अतः इस संसाररूपी लड़कीको भगवान्‌के अर्पित कर दें; क्योंकि भगवान्‌के समान दूसरा कोई योग्य वर मिलेगा नहीं। फिर हमारा कल्याण स्वतः सिद्ध है। वास्तवमें संसारका सम्बन्ध भगवान्‌के साथ ही है; क्योंकि यह भगवान्‌की ही अपरा प्रकृति है*। हमने ही इसको भगवान्‌से अलग मानकर अपना सम्बन्ध इसके साथ जोड़ लिया है—'**जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७।५)।

'नहीं' को 'है' रूपसे माने बिना कोई मनुष्य भोग और

---

* भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ (गीता ७।४)

'पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश—ये पंचमहाभूत और मन, बुद्धि तथा अहंकार—इस प्रकार यह आठ प्रकारके भेदोंवाली मेरी यह अपरा प्रकृति है।'

संग्रह कर ही नहीं सकता। अभावको भावरूपसे माने बिना कोई अनर्थ, पाप कर ही नहीं सकता। सभी अनर्थ अभावको सत्ता देनेसे ही होते हैं। अतः 'नहीं' को 'है' मान लेना ही सम्पूर्ण अवगुणोंका, सम्पूर्ण दुःखोंका, सम्पूर्ण आसुरी-सम्पत्तिका मूल कारण है। असत्‌को सत्ता देना ही मूल अवगुण है, जिससे सम्पूर्ण अवगुण पैदा होते हैं। असत्‌को सत्ता हमने ही दी है, इसलिये इसको हमें ही मिटाना है। असत्‌की स्वतन्त्र सत्ता मिटनेपर सत्-तत्त्वको लाना नहीं पड़ेगा, प्रत्युत उसका अनुभव स्वतः-स्वाभाविक हो जायगा; क्योंकि वह तो पहलेसे ही विद्यमान है।

३. साधकोपयोगी अमूल्य बातें

जिस साधकको कर्मयोगके मार्गपर चलना हो, उसको पहले यह मान लेना चाहिये कि 'मैं योगी हूँ'। जिसको ज्ञानयोगके मार्गपर चलना हो, उसको पहले यह धारणा कर लेनी चाहिये कि 'मैं जिज्ञासु हूँ'। जिसको भक्तियोगके मार्गपर चलना हो, उसको पहले यह मान लेना चाहिये कि 'मैं भक्त हूँ'। तात्पर्य है कि साधकको योगी होकर या जिज्ञासु होकर अथवा भक्त होकर साधन करना चाहिये।

जो योगी होकर साधन करता है, उसको जबतक योग-(समता) की प्राप्ति न हो, तबतक सन्तोष नही करना चाहिये। 'योग' नाम समताका है—'**समत्वं योग उच्यते**' (गीता २।४८)। राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि द्वन्द्व योगी बननेमें बाधक हैं। अतः साधकका उद्देश्य राग-द्वेष मिटानेका होना चाहिये। कर्म दो उद्देश्यसे किये जाते हैं—फलप्राप्तिके लिये और फलत्यागके लिये। जो फलप्राप्तिके उद्देश्यसे कर्म करता है, वह 'कर्मी' होता है और जो फल-त्यागके उद्देश्यसे कर्म करता है, वह 'कर्मयोगी' होता है। इसलिये कर्मयोगके साधकको पहले ही यह धारणा कर लेनी चाहिये कि मैं योगी हूँ; अतः फल-प्राप्तिके लिये कर्म करना मेरा उद्देश्य नहीं है। इस प्रकार फलासक्तिका त्याग करके उसको अपना कर्तव्य-कर्म करते रहना चाहिये*। उसके सामने अनुकूल या प्रतिकूल जो भी परिस्थिति आये, उसका सदुपयोग करना चाहिये,

---

* तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥ (गीता ३।१९)

भोग नहीं करना चाहिये। सुखी-दुःखी, राजी-नाराज होना परिस्थितिका भोग है। अनुकूल परिस्थितिमें दूसरोंकी सेवा करना और प्रतिकूल परिस्थितिमें सुखेच्छाका त्याग करना उसका सदुपयोग है। सदुपयोग करनेसे अनुकूल और प्रतिकूल दोनों परिस्थितियाँ राग-द्वेष मिटानेमें हेतु हो जाती हैं।

कर्ममात्रका सम्बन्ध 'पर' के साथ है, 'स्व' के साथ नहीं है। कारण कि 'स्व' अर्थात् स्वयंमें कभी अभाव नहीं होता। अभाव न होनेके कारण स्वयंको कुछ नहीं चाहिये। जब कुछ नहीं चाहिये तो फिर अपने लिये कोई कर्म करना बनता ही नहीं। दूसरी बात, जिन करणोंसे कर्म किये जाते हैं, वे प्रकृतिके हैं। प्रकृतिके साथ स्वयंका कोई सम्बन्ध न होनेसे स्वयंपर अपने लिये कुछ भी करना लागू होता ही नहीं। इसलिये जो मनुष्य अपने लिये कर्म करता है, वह कर्मोंसे बँध जाता है— '**यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः**' (गीता ३।९)। परन्तु जो अपने लिये कुछ न करके दूसरोंके लिये ही सब कर्म करता है, वह कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाता है—'**यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते**' (गीता ४।२३)। निष्कामभावपूर्वक दूसरेके लिये कर्म करनेका नाम 'यज्ञार्थ कर्म' है। यज्ञार्थ कर्म करनेवालेको परिणाममें यज्ञशेषके रूपमें 'योग' की प्राप्ति हो जाती है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।

(गीता ३।१३)

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।

(गीता ४।३१)

मैं योगी हूँ, मैं जिज्ञासु हूँ, मैं भक्त हूँ, मैं साधक हूँ— यह साधकका स्थूलशरीर नहीं है, प्रत्युत भावशरीर है। स्थूलशरीर

योगी, जिज्ञासु अथवा भक्त नहीं होता। अगर साधकमें पहले ही यह भाव हो जाय कि 'मैं संसारी नहीं हूँ, मैं तो साधक हूँ' तो उसका साधन बड़ा तेज चलेगा। जैसे, विवाहके समय जब लड़का 'दूल्हा' बन जाता है, तब उसकी चाल बदल जाती है। कारण कि उसकी अहंतामें यह बात आ जाती है कि 'मैं तो दूल्हा हूँ'। इसी तरह साधककी अहंतामें भी 'मैं साधक हूँ'— यहा बात आनी चाहिये। अगर अहंतामें 'मैं संसारी हूँ'—यह बात बैठी रहेगी तो संसारका काम बढ़िया होगा[१], साधन बढ़िया नहीं होगा। जो बात अहंतामें आ जाती है, उसको करना बड़ा सुगम हो जाता है। इसलिये साधकके लिये अपनी अहंताको बदलना बहुत आवश्यक है। जो सेवक, जिज्ञासु या भक्त बनकर साधन नहीं करता, उसका किया हुआ साधन निरर्थक तो नहीं जाता, पर उसकी सिद्धि वर्तमानमें नहीं होती। अतः मैं साधक हूँ, मैं कर्मयोगी हूँ, मैं ज्ञानयोगी हूँ अथवा मैं भक्तियोगी हूँ— ऐसा मानकर साधन करना चाहिये।

कर्मयोगका एक नाम 'सेवा' है। इसलिये कर्मयोगके साधकको 'मैं सेवक हूँ' यह बात अहंतामें लानी चाहिये। 'मैं सेवक हूँ'—इस अहंतासे यह बात पैदा होगी कि मेरा काम सेवा करना है, कुछ चाहना मेरा काम नहीं है। साधकमात्रके लिये यह खास बात है कि मेरेको संसारसे कुछ लेना नहीं है, मेरेको स्वार्थी, भोगी नहीं बनना है। संसारका सुख लेनेके लिये मैं नहीं हूँ। जो सुख चाहता है, वह सेवक नहीं होता[२]। कोई-सा भी साधक हो, उसको पहलेसे ही

१-संसारका बढ़िया काम भी परिणाममें घटिया ही होता है।

२-सेवक सुख चह मान भिखारी। ब्यसनी धन सुभ गति बिभिचारी॥
लोभी जसु चह चार गुमानी। नभ दुहि दूध चहत ए प्रानी॥
(मानस, अरण्य० १७।८)

सुखको तिलांजलि देनी पड़ेगी। साधकका काम साधन करना है, सुख भोगना नहीं। जो भोगी होता है, वह साधक नहीं होता। भोगी रोगी होता है, योगी नहीं होता। भोगीको दुःख पाना ही पड़ता है। वह दुःखसे कभी बच सकता ही नहीं।

सेवक वह होता है, जो हर समय सेवा करता है। वह भोजन करे तो भी सेवा, शौच-स्नान करे तो भी सेवा, कपड़े धोये तो भी सेवा, व्यापार करे तो भी सेवा; जो भी काम करे सब सेवाभावसे करे। परन्तु ऐसा तब होगा, जब उसके भीतर यह भाव रहे कि 'मैं सेवक ही हूँ'। अगर उसमें 'मैं मनुष्य हूँ' अथवा 'मैं ब्राह्मण हूँ', 'मैं वैश्य हूँ', 'मैं गृहस्थ हूँ', 'मैं साधु हूँ' आदि भाव पहले हैं और 'मैं सेवक हूँ' यह भाव पीछे है तो उससे कर्मयोग बढ़िया नहीं होगा। कर्मयोगीमें 'मैं सेवक हूँ' यह भाव पहले और 'मैं मनुष्य हूँ' आदि भाव पीछे रहने चाहिये। ऐसे ही 'मैं भक्त हूँ', 'मैं जिज्ञासु हूँ' अथवा 'मैं साधक हूँ'—यह भाव पहले रहना चाहिये। जैसे ब्राह्मणमें 'मैं ब्राह्मण हूँ' यह भाव (ब्राह्मणपना) हरदम जाग्रत् रहता है, ऐसे ही साधकमें 'मैं साधक हूँ' यह भाव हरदम जाग्रत् रहना चाहिये। ऐसा होनेसे मनुष्यभाव, शरीरभाव मिट जाता है। 'मैं मनुष्य हूँ'—यह पांचभौतिक मनुष्यशरीर है और 'मैं साधक (सेवक, जिज्ञासु अथवा भक्त) हूँ—यह भावशरीर है। भावशरीरकी मुख्यता होनेसे साधन निरन्तर होता है।

कर्मयोगी स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंकी सेवा करता है। शरीरको भोगी, आलसी, अकर्मण्य नहीं बनने देना 'स्थूलशरीर' की सेवा है। विषयोंका चिन्तन न करना, सबके सुख और हितका चिन्तन करना 'सूक्ष्मशरीर' की सेवा है। समाधि लगाना, अपने सिद्धान्तपर अचलरूपसे दृढ़ रहना, अपने कल्याणके निश्चयसे विचलित न होना 'कारणशरीर' की सेवा

है। स्थूलशरीरसे होनेवाली क्रिया, सूक्ष्मशरीरसे होनेवाला चिन्तन और कारणशरीरसे होनेवाली स्थिरता—तीनोंको ही 'अपना' और 'अपने लिये' न मानना उनकी सेवा है। कारण कि स्थूलशरीरकी स्थूल जगत्के साथ, सूक्ष्मशरीरकी सूक्ष्म जगत्के साथ और कारणशरीरकी कारण जगत्के साथ एकता है। इसलिये शरीरको संसारसे अलग मानना बहुत बड़ी गलती है। शरीर और संसारको 'अपना' तथा 'अपने लिये' मानना बहुत घातक है। ऐसा माननेवाला साधक नहीं बन सकता, भले ही उम्र बीत जाय। इसलिये कर्मयोगीको ऐसा मानना चाहिये कि मैं संसारका हूँ और संसारकी सेवाके लिये हूँ। इस विषयमें एक दृष्टान्त है। लोगोंमें यह बात प्रचलित है कि रुपयोंके पास रुपया आता है; क्योंकि जिनके पास रुपये होते हैं, वे उन रुपयोंसे कई नये काम-धन्धे शुरू करके और रुपये कमा लेते हैं। एक आदमीने जब सुना कि रुपयेके पास रुपया आता है तो वह अपने हाथमें एक रुपयेका सिक्का बजाते हुए बाजारमें घूमने लगा। एक दूकानमें रुपयोंकी ढेरी पड़ी थी तो बजाते समय रुपया जाकर उस ढेरीपर गिर गया! वह बोला कि बात क्या है? रुपयेके पास रुपया आना चाहिये? तो दूकानदार बोला कि हाँ, रुपयेके पास ही रुपया आया है। तुम्हारा रुपया छोटा है, ढेरीके रुपये बड़े हैं तो बड़ेके पास छोटा जायगा कि छोटेके पास बड़ा जायगा? छोटा ही बड़ेके पास जायगा। इसी तरह संसार शरीरके लिये नहीं है, प्रत्युत शरीर संसारके लिये है। संसार हमारे लिये नहीं है, प्रत्युत हम संसारके लिये हैं। इसलिये साधकके भीतर यह भाव रहता है कि मैं संसारके काम आऊँ।

साधकको चाहिये कि वह चाहे तो मैंपनको शुद्ध कर ले, चाहे मैंपनको मिटा दे, चाहे मैंपनको बदल दे। कर्मयोगी मैंपनको

शुद्ध करता है, ज्ञानयोगी मैंपनको मिटाता है और भक्तियोगी मैंपनको बदलता है। इसलिये कर्तृत्त्वाभिमान रहते हुए भी मनुष्य कर्मयोग और भक्तियोग अनुष्ठान कर सकता है। परन्तु कर्तृत्त्वाभिमान रहते हुए ज्ञानयोगका अनुष्ठान नहीं कर सकता। वह ज्ञानकी बातें भले ही सीख ले, पर सिद्धि नहीं होगी। कर्मयोग और भक्तियोगमें पहले कामना मिटती है, पीछे अहंकार मिटता है। ज्ञानयोगमें पहले अहंकार मिटता है, पीछे कामना स्वतः मिटती है। तात्पर्य है कि कर्मयोग और भक्तियोग अहंता रहते हुए भी चल सकते हैं, पर ज्ञानयोग अहंता रहते हुए नहीं चल सकता। इसलिये अहंकारके रहते हुए ज्ञानयोग कष्टपूर्वक चलता है—'**अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते**' (गीता १२।५) और अहंकार मिटनेपर सुखपूर्वक चलता है—'**सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते**' (गीता ६।२८)। परन्तु जो भोग भी भोगता रहे, सुख भी भोगता रहे, लोभ भी करता रहे, रुपये भी इकट्ठा करता रहे, ऐश-आराम भी करता रहे, उसको कोई भी योग सिद्ध नहीं होता। वह साधक भी नहीं हो सकता, सिद्ध होना तो दूर रहा!

भक्त मैंपन (अहंकार)-को मिटाता नहीं है, प्रत्युत बदलता है। मैंपनको बदलना बहुत सुगम होता है। जैसे, लड़कीका विवाह होता है तो 'मैं कुँआरी हूँ' यह मैंपन सुगमतासे बदल जाता है। ऐसे ही भक्त मैंपनको बदल देता है कि 'मैं संसारका नहीं हूँ, मैं तो भगवान्‌का हूँ।' मैंपनको बदलना सुगम भी है और श्रेष्ठ भी। मैंपनको बदलनेसे साधनमें तल्लीनता होकर अपने-आप स्वाभाविक ही सिद्धि हो जाती है।

साधकमें यह बात सबसे पहले होनी चाहिये कि ऐश-आराम करना, शरीरका पालन-पोषण करना मेरा काम नहीं है।

शरीर-निर्वाहका प्रबन्ध तो भगवान्‌ने पहले ही कर रखा है। भगवान्‌के यहाँसे निर्वाहका प्रबन्ध तो है, पर भोग भोगनेका, संग्रह करनेका, लखपति-करोड़पति बननेका प्रबन्ध नहीं है। माँके स्तनोंमें दूध पहले आता है, पीछे हमारा जन्म होता है। जब जीवन-निर्वाहका प्रबन्ध भगवान्‌की तरफसे है, तो फिर भजन क्यों नहीं करे? यद्यपि भजनकी जिम्मेवारी मनुष्यमात्रपर है, तथापि बूढ़े, विधवा और साधुपर विशेष जिम्मेवारी है। इन तीनोंको भगवद्भजनके सिवाय और काम ही क्या है? सुख भोगना, आराम करना, अनुकूलता चाहना—इसके लिये मनुष्यशरीर है ही नहीं—

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥

(मानस, उत्तर० ४४। १)

इसलिये जो सुख-आराम, मान-बड़ाई चाहता है, वह साधक नहीं हो सकता। वह तो भोगी है। मान-बड़ाई चाहना भी भोग है, क्योंकि मान शरीरका और बड़ाई नामकी होती है, अपनी (स्वयंकी) नहीं। मनुष्य मरनेके बाद भी बड़ाई चाहता है कि दो-चार पुस्तकें बना दें अथवा कोई ऐसा मकान बना दें, जिससे लोग मेरेको याद करें। इसको मारवाड़ी भाषामें 'गीतड़ा और भीतड़ा' कहते हैं। पर साधकको मान-बड़ाई, यश-कीर्तिसे दूर रहना चाहिये—'**बिच्छू-सी बड़ाई जाके नागिनी-सी नारी है**'। उसको तो परमात्माकी प्राप्ति करना है। स्वर्ग आदि ऊँचे लोकोंकी प्राप्ति करना भी साधकका काम नहीं है—'**स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई**'। भगवान् कहते हैं—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद् विनान्यत्॥

(श्रीमद्भा० ११। १४। १४)

'स्वयंको मेरे अर्पित करनेवाला भक्त मुझे छोड़कर ब्रह्माका पद, इन्द्रका पद, सम्पूर्ण पृथ्वीका राज्य, पातालादि लोकोंका राज्य, योगकी समस्त सिद्धियाँ और मोक्षको भी नहीं चाहता।'

अनेक लोगोंका यह स्वभाव होता है कि वे सेवा वहीं करते हैं, जहाँ मान-बड़ाई मिले। मान-बड़ाई, वाहवाहीके बिना वे काम कर ही नहीं सकते। कोई अच्छा काम हो जाय तो वे कहते हैं कि इसको हमने किया, पर काम बिगड़ जाय तो दूसरोंपर दोष लगाते हैं। ऐसी वृत्तिवालोंका कल्याण कैसे होगा? सब अच्छा काम मैंने किया—यह 'कैकेयीवृत्ति' है और सब अच्छा काम दूसरोंने किया—यह 'रामवृत्ति' है। कैकेयी कहती है—

तात बात मैं सकल सँवारी। भै मंथरा सहाय बिचारी॥
कछुक काज बिधि बीच बिगारेउ। भूपति सुरपति पुर पगु धारेउ॥

(मानस, अयोध्या० १६०।१)

और रामजी कहते हैं—

गुर बसिष्ट कुलपूज्य हमारे। इन्ह की कृपाँ दनुज रन मारे॥
ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भए समर सागर कहँ बेरे॥
मम हित लागि जन्म इन्ह हारे। भरतहु ते मोहि अधिक पिआरे॥

(मानस, उत्तर० ८।३-४)

अतः मान-बड़ाई, सुख-आराम पानेके उद्देश्यसे काम करना साधकके लिये अनुचित है।

साधक जिस मार्गको अपना ले, उसीमें दृढ़तासे लगा रहे। फिर सुख आये या दुःख आये, प्रशंसा हो या निन्दा हो, उसकी परवाह मत करे। जितना कष्ट आता है, विपरीत परिस्थिति आती है, वह केवल हमारी उन्नतिके लिये ही आती है। इसमें एक रहस्यकी बात है कि जब हमारा साधन ठीक चलता है और ठीक

चलते-चलते हम कुछ सुख भोगने लगते हैं और अभिमान करने लगते हैं कि मैं अच्छा साधक बन गया हूँ, तब भगवान् विपरीत परिस्थिति भेजते हैं। परतु जब हम ज्यादा घबरा जाते हैं तो फिर भगवान् अनुकूलता भेज देते हैं। समय-समयपर अनुकूलता-प्रतिकूलता भेजकर भगवान् हमें चेताते रहते हैं, हमारी रक्षा करते रहते हैं।

मेरेको कुछ लेना नहीं है, प्रत्युत देना-ही-देना है—ऐसा विचार करनेसे मनुष्य साधक बन जाता है। अगर साधक सेवक होगा तो सेवा करते-करते उसका सेवकपनेका अभिमान मिट जायगा अर्थात् सेवक न रहकर केवल सेवा रह जायगी और वह सेवारूप होकर सेव्यके साथ एक हो जायगा अर्थात् उसको परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी। ऐसे ही अगर साधक जिज्ञासु होगा तो उसमें जिज्ञासुपनेका अभिमान मिटकर केवल जिज्ञासा रह जायगी। केवल जिज्ञासा रहते ही जिज्ञासा-पूर्ति हो जायगी अर्थात् तत्त्वज्ञान हो जायगा। इसी तरह अगर साधक भक्त होगा तो उसमें भक्तपनेका अभिमान नहीं रहेगा और वह भक्तिरूप हो जायगा अर्थात् उसके द्वारा प्रत्येक क्रिया भक्ति (भगवान्के लिये) ही होगी। भक्तिरूप होकर वह भगवान्के साथ अभिन्न हो जायगा।

४. कामना और आवश्यकता

भगवान्ने गीतामें कहा है—‘**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः**’ (गीता १५।७)। ‘इस संसारमें जीव बना हुआ आत्मा मेरा ही सनातन अंश है।’ शरीरमें तो माता और पिता दोनोंका अंश है, पर स्वयंमें परमात्मा और प्रकृति दोनोंका अंश नहीं है, प्रत्युत यह केवल परमात्माका ही शुद्ध अंश है—‘**ममैवांशः**’। तात्पर्य है कि जैसे परमात्मा हैं, ऐसे ही उनका अंश जीवात्मा है। गोस्वामीजी महाराज कहते हैं—‘**ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥**’ (मानस, उत्तर० ११७।१)। अतः जैसे परमात्मा चेतन, निर्दोष और सहज सुखकी राशि हैं, ऐसे ही जीव भी चेतन, निर्दोष और सहज सुखकी राशि है। परन्तु परमात्माका ऐसा अंश होते हुए भी जीव मायाके वशमें हो जाता है—‘**सो मायाबस भयउ गोसाईं**’ और प्रकृतिमें स्थित मन-इन्द्रियोंको अपनी तरफ खींचने लगता है अर्थात् उनको अपना और अपने लिये मानने लगता है—‘**मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति**’ (गीता १५।७)। हम परमात्माके अंश हैं तथा परमात्मामें स्थित हैं और शरीर प्रकृतिका अंश है तथा प्रकृतिमें स्थित है। परमात्मामें स्थित होते हुए भी हम अपनेको शरीरमें स्थित मान लेते हैं—यह कितनी बड़ी भूल है! प्रकृतिका अंश तो प्रकृतिमें ही स्थित रहता है, पर हम परमात्माके अंश होते हुए भी परमात्मामें स्थित नहीं रहते, प्रत्युत स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीरमें स्थित हो जाते हैं, जो कि प्रकृतिका कार्य है। इस प्रकार प्रकृतिको पकड़नेसे ही जीव परमात्माका अंश कहलाता है। अगर प्रकृतिको न पकड़े तो यह अंश

नहीं है, प्रत्युत साक्षात् परमात्मा (ब्रह्म) ही है—

परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥

(गीता १३। २२)

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।

(गीता १३। ३१)

प्रकृतिको पकड़नेसे जीवमें संसारकी भी इच्छा उत्पन्न हो गयी और परमात्माकी भी इच्छा उत्पन्न हो गयी। प्रकृतिके जड़-अंशकी प्रधानतासे संसारकी इच्छा होती है और परमात्माके चेतन-अंशकी प्रधानतासे परमात्माकी इच्छा होती है। संसारकी इच्छा 'कामना' है और परमात्माकी इच्छा 'आवश्यकता' है, जिसको मुमुक्षा, तत्त्व-जिज्ञासा और प्रेम-पिपासा भी कह सकते हैं। आवश्यकताकी तो पूर्ति होती है, पर कामनाकी पूर्ति कभी किसीकी हुई नहीं, होगी नहीं, हो सकती नहीं। इतिहास पढ़ लें, भागवत आदि ग्रन्थ पढ़ लें, ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिलेगा, जिसकी सब कामनाएँ पूरी हो गयी हों। कामनाका तो त्याग ही होता है, पूर्ति नहीं होती। संसार क्षणभंगुर है, प्रतिक्षण नष्ट होनेवाला है, फिर उसकी कामना पूरी कैसे होगी?* शरीर-संसारसे सम्बन्ध माननेके कारण हमें अपनेमें जो कमी प्रतीत होती है, उसकी पूर्ति परमात्माकी प्राप्तिसे ही होगी। हमें त्रिलोकीका आधिपत्य मिल जाय, संसारमात्र मिल जाय, अनेक ब्रह्माण्ड मिल जायँ तो भी हमारी आवश्यकताकी पूर्ति नहीं होगी। न कामनाकी पूर्ति होगी, न आवश्यकताकी। क्योंकि जो कुछ मिलेगा, शरीरको ही मिलेगा, हमें (स्वयंको) नहीं मिलेगा।

---

* कुछ कामनाएँ पूरी होती हैं, कुछ पूरी नहीं होतीं—यह सबका अनुभव है। इससे सिद्ध होता है कि कामनाकी पूर्ति-अपूर्ति कामनाके अधीन नहीं है, प्रत्युत किसी विधान (पूर्वकृत कर्मफल)-के अधीन है।

जड़ वस्तु चेतनतक कैसे पहुँच सकती है? परमात्माके अंशको परमात्माकी ही आवश्यकता है। मेरी मुक्ति हो जाय, मेरा कल्याण हो जाय, मेरेको तत्त्वज्ञान हो जाय, मैं सम्पूर्ण दुःखोंसे छूट जाऊँ, मेरेको महान् आनन्द मिल जाय, मेरेको भगवत्प्रेम मिल जाय—यह सब स्वयंकी आवश्यकता है। कामनाका तो त्याग ही होता है, पर आवश्यकताका त्याग कभी हुआ नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं। आवश्यकताकी तो पूर्ति ही होती है। जितने भी सन्त-महात्मा हो चुके हैं, उनकी कामनाओंका त्याग हुआ है और आवश्यकताकी पूर्ति हुई है। इसलिये गीतामें कामनाके त्यागपर बहुत जोर दिया गया है।

जहाँ जीवने प्रकृतिके अंशको पकड़ा है, वहींसे कामना और आवश्यकताका भेद उत्पन्न हुआ है। अगर जीव प्रकृतिके अंशको छोड़ दे तो कामनाका त्याग हो जायगा और आवश्यकताकी पूर्ति हो जायगी। जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद होते ही कामनाओंका नाश और परमात्माकी प्राप्ति स्वतः हो जाती है, क्योंकि परमात्मा सब जगह नित्य-निरन्तर विद्यमान हैं। परमात्माकी प्राप्तिमें संसारकी कामना ही बाधक है। जड़ताको साथमें रखनेसे ही आवश्यकताकी पूर्ति (परमात्मप्राप्ति) नहीं होती। साधन करनेवाले बहुत-से लोग सांसारिक कामनाकी पूर्तिकी तरह ही पारमार्थिक आवश्यकताकी पूर्तिके लिये भी उद्योग करते हैं। अर्थात् जड़के द्वारा चेतनकी प्राप्ति चाहते हैं, शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिके द्वारा परमात्माकी प्राप्ति चाहते हैं। परन्तु यह सिद्धान्त है कि जड़के द्वारा चेतनकी प्राप्ति होती नहीं, होनी सम्भव नहीं। किन्तु चेतनकी प्राप्ति जड़के त्यागसे ही होती है।

कामनाओंके त्यागसे आवश्यकताकी पूर्ति हो जाती है—

यह नियम है। कामना त्याग करनेमें हम स्वतन्त्र हैं। कामना किसीमें भी निरन्तर नहीं रहती, प्रत्युत उत्पन्न-नष्ट होती रहती है। परन्तु आवश्यकता निरन्तर रहती है। हमें सत्ता चाहिये तो नित्य सत्ता चाहिये, ज्ञान चाहिये तो अनन्त ज्ञान चाहिये, सुख चाहिये तो अनन्त सुख चाहिये—यह सत्-चित्-आनन्दकी आवश्यकता हमारेमें निरन्तर रहती है। निरन्तर न रहनेवाली कामनाको तो हम पकड़ लेते हैं, पर निरन्तर रहनेवाली आवश्यकताकी तरफ हम ध्यान ही नहीं देते—यह हमारी भूल है।

अगर हम कामनाओंका त्याग कर दें तो परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी अथवा परमात्माकी प्राप्ति कर लें तो कामनाओंका त्याग हो जायगा। इन दोनोंको ही गीताने 'योग' कहा है—

'तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्।'

(६। २३)

'जिसमें दुःखोंके संयोगका ही वियोग है, उसीको योग नामसे जानना चाहिये।'

'समत्वं योग उच्यते'

(२। ४८)

'समत्व ही योग कहा जाता है।'

तात्पर्य है कि जड़ताका त्याग करना भी योग है और चिन्मयतामें स्थित होना भी योग है। दुःखरूप संसारसे माना हुआ सम्बन्ध ही 'दुःखसंयोग' है। दुःखोंका घर होनेसे संसार 'दुःखालय' है—'**दुःखालयमशाश्वतम्**' (गीता ८। १५)। जैसे पुस्तकालयमें पुस्तकें मिलती हैं, वस्त्रालयमें वस्त्र मिलता है, भोजनालयमें भोजन मिलता है, ऐसे ही दुःखालयमें दुःख-ही-दुःख मिलता है। दुःखालयमें सुख ही नहीं मिलता, फिर आनन्द

तो दूर रहा! परन्तु परमात्मामें आनन्द-ही-आनन्द है—'**यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः**' (गीता ६। २२)। ऐसे महान् आनन्दकी ही हमें आवश्यकता है, जिसकी पूर्तिके लिये ही हमें यह मनुष्यजन्म मिला है।

मनुष्य अनन्तकालतक जन्मता-मरता रहे तो भी उसकी आवश्यकता मिटेगी नहीं और कामना टिकेगी नहीं। बाल्यावस्थामें खिलौनोंकी कामना होती है, फिर बड़े होनेपर रुपयोंकी कामना हो जाती है, फिर स्त्री-पुत्र, मान-बड़ाई आदिकी कामना हो जाती है। इस प्रकार कोई भी कामना टिकती नहीं, बदलती रहती है, पर आवश्यकता कभी मिटती नहीं, बदलती नहीं। उस आवश्यकताकी पूर्तिके लिये ही कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग आदि साधन हैं।

हम गृहस्थका त्याग कर दें, रुपयोंका त्याग कर दें, शरीरका त्याग कर दें तो आवश्यकताकी पूर्ति हो जायगी—ऐसी बात नहीं है। आवश्यकताकी पूर्ति इनकी इच्छाका त्याग करनेसे होगी। गृहस्थ बना रहे, रुपये बने रहें, शरीर बना रहे, मान-बड़ाई बनी रहे—यह असम्भव है। असम्भवकी इच्छा कभी पूरी होगी ही नहीं, प्रत्युत इच्छा करते हुए मर जायँगे और जन्म-मरणके चक्करमें वैसे ही पड़े रहेंगे। इच्छाकी कभी पूर्ति नहीं होगी और आवश्यकताका कभी त्याग नहीं होगा। कारण कि इच्छा शरीर (जड़)-को लेकर है और उसका विषय नाशवान् है तथा आवश्यकता स्वयं (चेतन)-को लेकर है और उसका विषय अविनाशी है। अतः चाहे इच्छाका त्याग कर दें तो योग सिद्धि हो जायगा—'**तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्**' और चाहे आवश्यकताकी पूर्ति कर लें तो योग सिद्ध हो जायगा—'**समत्वं योग उच्यते**'।

जड़ताका त्याग भी योग है और समताकी प्राप्ति भी योग है। जड़ताके त्यागसे चिन्मयताकी प्राप्ति हो जायगी और चिन्मयताकी प्राप्तिसे जड़ताका त्याग हो जायगा। दोनों एक साथ कभी रहेंगे नहीं।

जैसे पानीसे भरा हुआ घड़ा हो तो उसको खाली करना है और उसमें आकाश भरना है—ये दो काम दीखते हैं। पर वास्तवमें दो काम नहीं हैं, प्रत्युत एक ही काम है—घड़ेको खाली करना। घड़ेमेंसे पानी निकाल दें तो आकाश अपने-आप भर जायगा। ऐसे ही संसारकी कामनाका त्याग करना और परमात्माकी आवश्यकता पूरी करना—ये दो काम नहीं हैं। संसारकी कामनाका त्याग कर दें तो परमात्माकी आवश्यकता अपने-आप पूरी हो जायगी। केवल संसारकी इच्छासे ही परमात्मा अप्राप्त हो रहे हैं।

जीव, जगत् और परमात्मा—ये तीन ही वस्तुएँ हैं। जीव क्या है? मैं जीव हूँ। जगत् क्या है? यह जो दीख रहा है, यह जगत् है। परमात्मा क्या है? जो जीव और जगत् दोनोंका मालिक है, वह परमात्मा है। जीव और जगत्‌का तो विचार होता है, पर परमात्माका विचार नहीं होता, प्रत्युत विश्वास होता है। कारण कि विचारका विषय वह होता है, जिसके विषयमें हम कुछ जानते हैं, कुछ नहीं जानते। जिसके विषयमें कुछ नहीं जानते, उसपर विचार नहीं चलता। उसपर तो विश्वास ही किया जाता है। अतः विचार करके जगत्‌का त्याग करना है और श्रद्धा-विश्वास करके परमात्माको स्वीकार करना है। जड़ताका त्याग करनेमें कोई भी परतन्त्र नहीं है; क्योंकि जड़ता विजातीय है। साधक अधिक-से-अधिक अपने मनको परमात्मामें लगाता है। मन तो प्रकृतिका अंश होनेसे जड़ है और परमात्मा चेतन हैं।

अतः मन परमात्मामें कैसे लगेगा? जड़ तो जड़में ही लगेगा, चेतनमें कैसे लगेगा? वास्तवमें स्वयं (चेतन) ही परमात्मामें लगता है, मन नहीं लगता। जीवका स्वभाव है कि वह वहीं लगता है, जहाँ उसका मन लगता है। संसारमें मन लगानेसे वह संसारमें लग गया। जब वह परमात्मामें मन लगाता है, तब मन तो परमात्मामें नहीं लगता, पर स्वयं परमात्मामें लग जाता है। मनको संसारसे हटाकर परमात्मामें लगानेसे मन विलीन हो जाता है, खत्म हो जाता है। श्रीमद्भागवतमें भगवान् कहते हैं—

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते॥

(११।१४।२७)

'विषयोंका चिन्तन करनेसे मन विषयोंमें फँस जाता है और मेरा स्मरण करनेसे मन मेरेमें विलीन हो जाता है अर्थात् मनकी सत्ता नहीं रहती।'

कामनाकी पूर्तिमें तो भविष्य है, पर आवश्यकताकी पूर्तिमें भविष्य नहीं है। कारण कि सांसारिक पदार्थ सदा सब जगह विद्यमान नहीं हैं, पर परमात्मा सदा सब जगह विद्यमान हैं। अनुभवमें न आये तो भी आँखें मीचकर, अन्धे होकर यह मान लें कि परमात्मा सब जगह मौजूद हैं—'**बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च**' (गीता १३।१५) 'वे परमात्मा सम्पूर्ण प्राणियोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण हैं और चर-अचर प्राणियोंके रूपमें भी वे ही हैं।' इस प्रकार सब जगह, सब समय, सब वस्तुओंमें, सब व्यक्तियोंमें, सब क्रियाओंमें, सब अवस्थाओंमें, सब परिस्थितियोंमें परमात्माको देखते रहनेसे इच्छा नष्ट हो जायगी और आवश्यकताकी पूर्ति हो जायगी।

शरीर और संसार एक ही जातिके हैं—'**छिति जल**

पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा॥' (मानस, कि० ११।२)। शरीर हमारे साथ एक क्षण भी नहीं रहता। यह निरन्तर हमारा त्याग कर रहा है। परन्तु भगवान् निरन्तर हमारे हृदयमें विराजमान रहते हैं—'**हृदि सर्वस्य विष्ठितम्**' (गीता १३।१७), '**सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः**' (गीता १५।१५), '**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति**' (गीता १८।६१)। तात्पर्य है कि हमें जिसका त्याग करना है, उसका निरन्तर त्याग हो रहा है और जिसको प्राप्त करना है, वह निरन्तर प्राप्त हो रहा है। केवल भोग भोगना और संग्रह करना—इन दो इच्छाओंका हमें त्याग करना है। ये दो इच्छाएँ ही परमात्मप्राप्तिमें खास बाधक हैं। भोग और संग्रहका, शरीरका त्याग तो अपने-आप हो रहा है। जैसे बालकपना चला गया, ऐसे ही जवानी भी चली जायगी, वृद्धावस्था भी चली जायगी, व्यक्ति भी चले जायँगे, पदार्थ भी चले जायँगे। केवल उनकी इच्छाका त्याग करना है, उनको अस्वीकार करना है। परन्तु परमात्मा निरन्तर हमारे साथ रहते हैं। वे हमारी स्वीकृति-अस्वीकृतिपर निर्भर नहीं हैं। परमात्माको मानें तो भी वे हैं, न मानें तो भी वे हैं, स्वीकार करें तो भी वे हैं, अस्वीकार करें तो भी वे हैं। परन्तु संसार हमारी स्वीकृति-अस्वीकृतिपर निर्भर करता है। संसारको स्वीकार करें तो वह है, अस्वीकार करें तो वह नहीं है। अगर संसार मनुष्यकी स्वीकृति-अस्वीकृतिपर निर्भर नहीं होता तो फिर कोई भी मनुष्य संसारसे असंग नहीं हो सकता, साधु नहीं बन सकता। संसार निरन्तर अलग हो रहा है और परमात्मा कभी अलग नहीं होते। केवल संसारकी इच्छाका त्याग करना है और परमात्माकी आवश्यकताका अनुभव करना है। फिर संसारका त्याग और

परमात्माकी प्राप्ति स्वतः सिद्ध है।

किसीकी भी ताकत नहीं है कि वह शरीर-संसारको अपने साथ रख सके अथवा खुद उनके साथ रह सके। न हम उनके साथ रह सकते हैं, न वे हमारे साथ रह सकते हैं, क्योंकि वे हमारे नहीं हैं। संसारका कोई भी सुख सदा नहीं रहता; क्योंकि वह सुख हमारा नहीं है। उसकी इच्छाका त्याग करना ही पड़ेगा। संसारको सत्ता भी हमने ही दी है—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७।५)। वास्तवमें संसारकी सत्ता है नहीं—'**नासतो विद्यते भावः**' (गीता २।१६)। संसार एक क्षण भी टिकता नहीं है। हमें वहम होता है कि हम जी रहे हैं, पर वास्तवमें हम मर रहे हैं। मान लें, हमारी कुल आयु अस्सी वर्षकी है और उसमेंसे बीस वर्ष बीत गये तो अब हमारी आयु अस्सी वर्षकी नहीं रही, प्रत्युत साठ वर्षकी रह गयी। हम सोचते हैं कि हम इतने वर्ष बड़े हो गये हैं, पर वास्तवमें छोटे हो गये हैं। जितनी उम्र बीत रही है, उतनी ही मौत नजदीक आ रही है। जितने वर्ष बीत गये, उतने तो हम मर ही गये। अतः जो निरन्तर छूट रहा है, उसको ही छोड़ना है और जो निरन्तर विद्यमान है उसको ही प्राप्त करना है।

हमने जिद कर ली है कि हम संसारको पकड़ेंगे, छोड़ेंगे नहीं तो भगवान्‌ने भी जिद कर ली है कि मैं छुड़ा दूँगा, रहने दूँगा नहीं। हम बालकपना पकड़ते हैं तो भगवान् उसको नहीं रहने देते, हम जवानी पकड़ते हैं तो उसको नहीं रहने देते, हम वृद्धावस्था पकड़ते हैं तो उसको नहीं रहने देते, हम धनवत्ता पकड़ते हैं तो उसको नहीं रहने देते, हम नीरोगता पकड़ते हैं तो उसको नहीं रहने देते। हम नया-नया पकड़ते रहते हैं और भगवान् छुड़ाते रहते हैं। यह भगवान्‌की अत्यन्त कृपालुता

है! वे हमारा क्रियात्मक आवाहन करते हैं कि तुम संसारमें न फँसकर मेरी तरफ चले आओ। अगर हम संसारको पकड़ना छोड़ दें तो महान् आनन्द मिल जायगा। जब कभी हमें शान्ति मिलेगी तो वह कामनाओंके त्यागसे ही मिलेगी—'**त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्**' (गीत १२। १२)।

दूसरोंकी सेवा करनेसे बड़ी सुगमतासे इच्छाका त्याग होता है। गरीब, अपाहिज, बीमार, बालक, विधवा, गाय आदिकी सेवा करनेसे इच्छाएँ मिटती हैं। एक साधु कहते थे कि जब मेरा विवाह हुआ था, एक दिन मेरेको एक आम मिला। पर मैंने वह आम अपनी स्त्रीको दे दिया। इससे मेरे भीतर यह विचार उठा कि वह आम मैं खुद भी खा सकता था, पर मैंने खुद न खाकर स्त्रीको क्यों दिया? इससे मेरेको यह शिक्षा मिली कि दूसरेको सुख पहुँचानेसे अपने सुखकी इच्छा मिटती है। इसका नाम 'कर्मयोग' है।

संसारकी इच्छा शरीरकी प्रधानतासे होती है। अतः विवेक-विचारपूर्वक शरीरके द्वारा दूसरोंकी सेवा करनेसे, दूसरोंको सुख पहुँचानेसे इच्छा सुगमतापूर्वक मिट जाती है। सृष्टिकी रचना ही इस ढंगसे हुई है कि एक-दूसरेको सुख पहुँचानेसे, सेवा करनेसे कल्याणकी प्राप्ति हो जाती है—'**परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ**' (गीता ३। ११)। शरीर संसारसे ही पैदा हुआ है, संसारसे ही पला है, संसारसे ही शिक्षित हुआ है, संसारमें ही रहता है और संसारमें ही लीन हो जाता है अर्थात् संसारके सिवाय शरीरकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। अतः संसारसे मिले हुएको ईमानदारीके साथ संसारकी सेवामें अर्पित कर दें। जो कुछ करें, संसारके हितके लिये ही करें। केवल संसारके हितका ही चिन्तन करें, हितका ही भाव रखें,

साथमें अपने आराम, मान-बड़ाई, सुख-सुविधा आदिकी इच्छा न रखें तो परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी—'**ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः**' (गीता १२।४)।

दूसरोंको सुख पहुँचानेकी अपेक्षा भी किसीको दुःख न पहुँचाना बहुत ऊँची सेवा है। सुख पहुँचानेसे सीमित सेवा होती है, पर दुःख न पहुँचानेसे असीम सेवा होती है। भलाई करनेसे ऊपरसे भलाई होती है, पर बुराई न करनेसे भीतरसे भलाई अंकुरित होती है। बुराईका त्याग करनेके लिये तीन बातोंका पालन आवश्यक है—(१) किसीको बुरा नहीं समझें (२) किसीका बुरा नहीं चाहें और (३) किसीका बुरा नहीं करें। इस प्रकार बुराईका सर्वथा त्याग करनेसे हमारी वास्तविक आवश्यकताकी पूर्ति हो जायगी और मनुष्यजीवन सफल हो जायगा।

विचारके द्वारा यह अनुभव करें कि शरीर मेरा स्वरूप नहीं है। बचपनमें हमारा शरीर जैसा था, वैसा आज नहीं है और जैसा आज है, वैसा आगे नहीं रहेगा, पर हम स्वयं वही हैं, जो बचपनमें थे। तात्पर्य है कि शरीर तो बदल गया, पर हम नहीं बदले। अतः शरीर हमारा साथी नहीं है। हम निरन्तर रहते हैं, पर शरीर निरन्तर नहीं रहता, प्रत्युत निरन्तर मिटता रहता है। इस विवेकको महत्त्व देनेसे तत्त्वज्ञान हो जायगा अर्थात् हमारी आवश्यकताकी पूर्ति हो जायगी। इसका नाम 'ज्ञानयोग' है।

जब इच्छाओंको मिटानेमें अथवा आवश्यकताकी पूर्ति करनेमें अपनी शक्ति काम नहीं करती और साधकका यह विश्वास होता है कि केवल भगवान् ही अपने हैं और उनकी शक्तिसे ही मेरी आवश्यकताकी पूर्ति हो सकती है, तब वह व्याकुल होकर भगवान्‌को पुकारता है, प्रार्थना करता है।

भगवान्‌को पुकारनेसे उसकी इच्छाएँ मिट जाती हैं। इसका नाम 'भक्तियोग' है।

संसारकी सत्ता मानकर उसको महत्ता देनेसे तथा उसके साथ सम्बन्ध जोड़नेसे ही जो अप्राप्त है, वह संसार प्राप्त दीखने लग गया और जो प्राप्त है, वह परमात्मतत्त्व अप्राप्त दीखने लग गया। इसी कारण संसारकी भी इच्छा उत्पन्न हो गयी और परमात्माकी भी इच्छा (आवश्यकता) उत्पन्न हो गयी। अतः साधकको कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि किसी भी साधनसे संसारकी इच्छाको सर्वथा मिटाना है। संसारकी इच्छा सर्वथा मिटते ही संसारकी सत्ता, महत्ता तथा सम्बन्ध नहीं रहेगा और जिनके हम अंश हैं, उन नित्यप्राप्त परमात्माका अनुभव हो जायगा। फिर कुछ भी करना, जानना और पाना बाकी नहीं रहेगा अर्थात् मनुष्यजन्मकी पूर्णता हो जायगी।

५. देनेके भावसे कल्याण

श्रीमद्भगवद्गीतामें आया है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(१८।४६)

'जिस परमात्मासे सम्पूर्ण प्राणियोंकी प्रवृत्ति होती है और जिससे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, उस परमात्माका अपने कर्मके द्वारा पूजन करके मनुष्य सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।'

परमात्मासे ही सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं और चेष्टा करते हैं। वे परमात्मा सब जगह परिपूर्ण हैं—'**मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना**' (गीता ९।४)। 'यह सब संसार मेरे अव्यक्त स्वरूपसे व्याप्त है।' अतः साधक जो भी कर्म करे, उसमें वह ऐसा भाव रखे कि मैं उस परमात्माकी ही पूजा कर रहा हूँ। किसीके साथ बर्ताव करे तो वह परमात्माकी ही पूजा है। किसीसे बातचीत करे तो वह परमात्माका ही पूजन है। इस प्रकार पूजन करनेसे मनुष्यका कल्याण हो जाता है—यह कितना सुगम, सरल साधन है!

एक ही परमात्मा अनेक रूपोंसे प्रकट हुए हैं। वे एक ही अनेक रूपोंमें हैं और अनेक रूपोंमें वे एक ही हैं। उन्हीं परमात्माका पूजन करना है और कुछ नहीं करना है। भाईलोग अपने कर्मोंसे भगवान्‌का पूजन करें, बहनें अपने कर्मोंसे। भाईलोग व्यापार करें, नौकरी करें तो केवल भगवान्‌की पूजा समझकर करें। बहनें रसोई बनायें, बालकोंका पालन करें, घरका काम-धंधा करें तो केवल भगवान्‌की पूजा समझकर करें।

भगवान् ही अनेक रूपोंमें हमारे सामने प्रकट हुए हैं। उस साक्षात् भगवान्‌की सेवामें बढ़कर और क्या अहोभाग्य होगा!

कुछ लेनेकी इच्छा रखकर सेवा करना भगवान्‌का पूजन नहीं है। जिस वस्तुको लेनेकी इच्छा होती है, उसकी सत्ता और महत्ता अपनेमें आ जाती है। अतः लेनेकी इच्छासे अपनेमें जड़ता आती है और देनेकी इच्छासे जड़ता मिटकर चेतनता आती है। जब मनुष्य साधक बनता है, तब वह लेनेके लिये नहीं बनता, प्रत्युत केवल देनेके लिये ही बनता है। जो कभी स्वप्नमें भी किसीसे कुछ लेना नहीं चाहता, केवल देना-ही-देना चाहता है, वही साधक होता है। लेना और देना—ये दोनों जिसमें हों, वह 'चिज्जड़ग्रन्थि' है, जो जन्म-मरणका कारण है। जो अपना उद्धार चाहता है, चिज्जड़ग्रन्थिसे छूटना चाहता है, उसको लेना बन्द करके देना शुरू कर देना चाहिये। कहीं लेना भी पड़े तो वह भी देनेके लिये, दूसरेकी प्रसन्नताके लिये लेना है, अपने लिये नहीं। जो सुख लेता है, वह साधक नहीं होता, प्रत्युत भोगी होता है। भोगीका पतन होता है। भोगी रोगी होता है। भोगीमें जड़ता आती है। भोगी पराधीन होता है। अतः जो लेता है, वह भोगी है और जो देता है, वह योगी है।

भगवान्‌से बढ़कर और कोई नहीं है; क्योंकि वे देते-ही-देते हैं। इतना ही नहीं, उन्होंने अपने-आपको सबको सर्वथा सर्वदा समानरूपसे दे रखा है—'**सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः**' (गीता १५।१५)। उनमें कोई कमी है नहीं, हुई नहीं, होगी नहीं, हो सकती नहीं, पर भक्तकी प्रसन्नताके लिये वे लेते हैं। गोपियोंकी प्रसन्नताके लिये ही वे उनका मक्खन लेते हैं। अतः साधकको केवल देने-ही-देनेका भाव रखना चाहिये कि सबको सुख कैसे हो? सबको आराम कैसे हो? सबका भला कैसे हो?

सबका कल्याण कैसे हो? सब सुखी कैसे हों? सबको प्रसन्नता कैसे हो? ऐसे भावोंसे दुनियामात्रकी सेवा होती है। यद्यपि भाव साधारण दीखता है और क्रिया बड़ी दीखती है, तथापि वास्तवमें भाव बहुत श्रेष्ठ है और क्रिया बहुत छोटी है। लाखों-करोड़ों रुपये लगा दें तो भी वह सीमित ही होगा, पर सेवाका भाव असीम होगा। असीमसे असीम (परमात्मा)-की प्राप्ति होती है। सीमितसे असीमकी प्राप्ति नहीं होती।

कर्मयोगमें सेवा मुख्य है। कर्मयोगसे केवल मलदोष ही नहीं मिटता, प्रत्युत मल, विक्षेप और आवरण—सभी दोष सर्वथा मिट जाते हैं और तत्त्वज्ञान हो जाता है। वही सेवा अगर भगवान्‌की पूजा समझकर की जाय तो भक्ति प्राप्त हो जाती है। यद्यपि ज्ञान और भक्तिमें कोई छोटा-बड़ा नहीं है, तथापि भक्तिमें प्रेमका एक विशेष रस, विशेष आनन्द है। हाँ, ज्ञानमें भी विशेषताका अभाव नहीं है, पर उसमें प्रेम छिपा हुआ है, जबकि भक्तिमें प्रेम प्रकट है।

लेनेसे वस्तुका नाश और अपना पतन होता है। भोगी मनुष्य भोजन लेता है तो भोजनका नाश और अपना पतन करता है। अपनेको भोजनके अधीन स्वीकार किया, भोजनको अधिक महत्त्व देकर अपनी महत्ता कम कर ली—यही अपना पतन है। भोजनसे अपनी भूखका, खानेकी शक्तिका नाश होता है। भोजन कर नहीं सकते—इस असामर्थ्यको ही तृप्ति कह देते हैं! इसी तरह कपड़ा लेनेवाला कपड़ेका नाश करता है, मान-बड़ाई लेनेवाला मान-बड़ाईका नाश करता है, आदर लेनेवाला आदरका नाश करता है और अपना पतन करता है। परन्तु देनेवाला दूसरेकी सेवा करता है, वस्तुको सार्थक करता है और अपना उत्थान करता है। देनेवाला मनुष्य ऊँचा उठ ही जाता है, नीचा

नहीं रहता। लेनेवाला नीचा रहता है। देनेवालेका हाथ ऊँचा रहता है और लेनेवालेका हाथ नीचा रहता है।

सेवक, सेवा और सेव्य—ये तीन होते हैं। सेवा करते-करते जब सेवकपनेका अभिमान मिट जाता है, तब सेवक सेवा होकर सेव्यमें लीन हो जाता है। अभिमान मिटनेपर केवल सेवा-ही-सेवा रह जाती है। जैसे, गोस्वामीजी महाराजने रामायणकी रचना की तो अब रामायणके द्वारा समाजकी कितनी सेवा हो रही है! तात्पर्य है कि गोस्वामीजी महाराज ही सेवारूपसे हमारे सामने आये हैं। रामायण गोस्वामीजी महाराजका ही रूप है और रामायणरूपसे सबकी सेवा कर रहे हैं। उनकी सेव्य (परमात्मा)-से अलग स्वतन्त्र स्थिति नहीं रही।

ज्ञानमार्गमें जब जिज्ञासुपनेका अभिमान मिट जाता है, तब केवल जिज्ञासा रहकर तत्त्वज्ञान हो जाता है। जबतक 'मैं जिज्ञासु हूँ' ऐसे जिज्ञासु रहता है, तबतक तत्त्वज्ञान नहीं होता। जिज्ञासुपना मिटते ही तत्काल तत्त्वज्ञान हो जाता है। इसमें किसी गुरुकी जरूरत नहीं है। कारण कि वास्तवमें तत्त्वज्ञान होता नहीं है, प्रत्युत वह पहलेसे ही है। उत्पन्न होनेवाली चीज मिटनेवाली होती है। जो पैदा होता है, उसका नाश अवश्यम्भावी है। ज्ञान नित्य है। यह उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तु नहीं है। अज्ञानके मिटनेको ही ज्ञानका होना कह देते हैं। जैसे सूर्य उदय होता है, पैदा नहीं होता, ऐसे ही ज्ञान उदय (प्रकट) होता है। ज्ञानस्वरूप परमात्मा सबके हृदयमें विराजमान हैं—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥

(गीता १३।१७)

'वह परमात्मा सम्पूर्ण ज्योतियोंका भी ज्योति और अज्ञानसे

अत्यन्त परे कहा गया है। वह ज्ञानस्वरूप, जाननेयोग्य, ज्ञान (साधनसमुदाय)-से प्राप्त करनेयोग्य और सबके हृदयमें विराजमान है।'

केवल हमारे अज्ञानके कारण वे प्रकट नहीं हो रहे हैं— '**अस प्रभु हृदयँ अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥**' (मानस, बाल० २३।४)। अज्ञान मिटते ही तत्त्वज्ञान ज्यों-का-त्यों है।

गृहस्थमें रहते हुए अपने कर्मोंके द्वारा भगवान्‌का पूजन बहुत सुगमतासे किया जा सकता है। एकान्तमें रहकर साधन करनेकी अपेक्षा समुदायमें रहकर साधन करना श्रेष्ठ है। समुदायमें रहकर साधन करनेवाला एकान्तमें भी साधन कर सकता है, पर एकान्तमें साधन करनेवाला समुदायमें रहकर साधन नहीं कर सकता—यह उसमें एक कमजोरी रहती है। गृहस्थ छोड़कर साधु बननेवाला कायर होता है। कायर भागता है, शूरवीर नहीं भागता। शूरवीरका साधन तेज होता है। इसलिये गृहस्थमें बड़े अच्छे सन्त हुए हैं।

त्यागी सोभा जगत में, करता है सब कोय।
हरिया गृहस्थी सन्तका, भेदी विरला होय॥

त्यागी सन्तकी महिमा तो सब जानते हैं और करते हैं, पर गृहस्थी गुप्त सन्तकी महिमा जाननेवाले विरले ही होते हैं। अतः गृहस्थमें रहते हुए दूसरोंकी सेवा करें, उनको सुख पहुँचायें, आराम पहुँचायें। अपना भाव सबके हितका रखें कि सब सुखी हो जायँ, सब नीरोग हो जायँ, सबका कल्याण हो, किसीको थोड़ा भी दुःख न हो—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

जिसका स्वभाव दूसरोंका हित करनेका होता है, उसके लिये ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, प्रेम कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता—

परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥

(मानस, अरण्य० ३१।५)

सेवामें भावका ही महत्त्व है, वस्तुका नहीं। सेवाका भाव (असीम होनेसे) कल्याण करता है, वस्तु (सीमित होनेसे) कल्याण नहीं करती। एक सज्जन भगवान्‌से यह कहा करते थे कि 'महाराज! आप सबका पालन-पोषण करते ही हैं, थोड़ा मेरेको भी निमित्त बना दो, थोड़ी मैं भी सेवा कर लूँ! इससे मेरा मुफ्तमें ही कल्याण हो जायगा!' वास्तवमें कल्याणका मूल्य कोई चुका नहीं सकता। उसका मूल्य किसीके पास नहीं है। अपने-आपको दे दे—यही उसका मूल्य है!

अपने कर्मोंके द्वारा भगवान्‌का पूजन करनेका मनुष्यमात्र अधिकारी है। पशु-पक्षी सेवा नहीं कर सकते। उनसे सेवा ले सकते हैं; जैसे—वृक्षोंसे फल, फूल, पत्ते, लकड़ी आदि ले सकते हैं, पशुओंसे दूध आदि ले सकते हैं, पर वे हमें दे नहीं सकते। देनेवाला केवल मनुष्य ही है। मनुष्य इतना विलक्षण है कि वह अपनेको भी देता है, संसारको भी देता है और भगवान्‌को भी देता है अर्थात् अपना कल्याण करता है, संसारकी सेवा करता है और भगवान्‌को राजी करता है! सेवा करनेवालेको दुनियाकी गरज नहीं होती, प्रत्युत दुनियाको ही उसकी गरज होती है। भगवान् भी भावके भूखे हैं; अतः उनको भी प्रेमकी गरज रहती है! ऐसा उत्तम मनुष्यशरीर हमें मिला है! यह कोई मामूली चीज नहीं है। यह भगवान्‌की बहुत बड़ी देन है। बिना हेतु स्नेह करनेवाले प्रभुने कृपा करके यह मानवशरीर दिया है—

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

(मानस, उत्तर० ४४।३)

ऐसा मानवशरीर पाकर अब देना-ही-देना शुरू कर दें। लेना पशुता है और देना मनुष्यता है। देना शुरू करते ही मनुष्य साधक हो जाता है और जब देना-ही-देना रह जाता है, तब वह सिद्ध हो जाता है, भगवान्‌के बराबर हो जाता है—

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

(मानस, उत्तर० ४७।३)

देवर्षि नारदजी कहते हैं—

तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्।

(भक्तिसूत्र ४१)

'भगवान् और उनके भक्तमें भेदका अभाव है।'

यतस्तदीयाः।

(भक्तिसूत्र ७३)

'कारण कि भक्त भगवान्‌के ही हैं।'

६. भक्तिकी अलौकिक विलक्षणता

जिस साधनमें अपना उद्योग मुख्य होता है, वह लौकिक होता है और जिस साधनमें भगवान्‌का आश्रय मुख्य होता है, वह अलौकिक होता है। कर्मयोग और ज्ञानयोग—ये दोनों लौकिक साधन हैं; क्योंकि इनमें अपना उद्योग मुख्य है, इसलिये भगवान् कहते हैं—'**उद्धरेदात्मनात्मानम्**' (गीता ६।५) 'अपने द्वारा अपना उद्धार करें'। परन्तु भक्तियोग अलौकिक साधन है; क्योंकि इसमें भगवान्‌का सम्बन्ध मुख्य है, इसलिये भगवान् कहते हैं—'**तेषामहं समुद्धर्ता**' (गीता १२।७) 'उनका उद्धार मैं करता हूँ।' तात्पर्य है कि भगवान्‌का सम्बन्ध होनेसे सब अलौकिक हो जाता है अन्यथा सब लौकिक ही है।

लौकिक साधनमें जगत् और जीवकी मुख्यता होती है; क्योंकि 'यह संसार है और मैं हूँ'—इस प्रकार जगत् और जीव दोनों हमारे प्रत्यक्ष होनेसे लौकिक हैं। परन्तु अलौकिक साधनमें भगवान्‌की मुख्यता होती है; क्योंकि भगवान् हमारे प्रत्यक्ष न होनेसे अलौकिक हैं। यद्यपि लौकिक और अलौकिक—दोनों ही साधनोंमें विवेक-विचार और श्रद्धा-विश्वासकी आवश्यकता है, तथापि लौकिक साधनमें विवेक-विचारकी मुख्यता है और अलौकिक साधनमें श्रद्धा-विश्वासकी मुख्यता है। तात्पर्य है कि जगत्‌के लिये और अपने लिये 'विचार' की आवश्यकता है एवं भगवान्‌के लिये 'विश्वास' की आवश्यकता है।

विचारकी आवश्यकता उस विषयमें होती है, जिस विषयमें हम कुछ जानते हैं, कुछ नहीं जानते अर्थात् अधूरा जानते

हैं। जगत् और स्वयंके विषयमें हम यह तो जानते हैं कि 'संसार है और मैं हूँ', पर 'संसार क्या है? मैं क्या हूँ? इनका स्वरूप क्या है?'—इस प्रकार हम इनको तत्त्वसे (यथार्थ रूपसे) नहीं जानते। इसलिये जगत् और जीव—दोनों विचारके विषय हैं।

विश्वासकी आवश्यकता उस विषयमें होती है, जिस विषयमें हम कुछ भी नहीं जानते, जो हमारे लिये सर्वथा अज्ञात है। भगवान्‌के विषयमें हम कुछ भी नहीं जानते, इसलिये भगवान् विश्वासके विषय हैं। तात्पर्य है कि 'भगवान् हैं'—इस प्रकार उनपर विश्वास ही हो सकता है, 'वे कैसे हैं'—इस प्रकार उनपर विचार नहीं हो सकता, तर्क नहीं चल सकता। भगवान्‌को मानने अथवा न माननेमें मनुष्य स्वतन्त्र है।

जिसको हम देखते हैं अथवा जानते हैं, उसपर विश्वास नहीं होता; क्योंकि वह तो हमारे सामने ही है। विश्वास उसीपर होता है, जिसको देखा अथवा जाना नहीं है, प्रत्युत सुना और माना है। जैसे माता-पिताको हमने देखा अथवा जाना नहीं है, प्रत्युत सुना और माना है। तात्पर्य है कि माता-पिताको हम केवल विश्वासके आधारपर ही अपना मानते हैं, इसके सिवाय और कोई उपाय नहीं है। ऐसे ही भगवान्‌को भी हम शास्त्रोंसे अथवा सन्तोंसे सुनकर मानते हैं। शास्त्र और सन्त भगवान्‌के विषयमें कहते हैं कि भगवान् हमारे हैं, हमारेमें हैं, अभी हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वसुहृद् हैं, सर्वसमर्थ हैं और अद्वितीय हैं। इसपर विश्वास करना हमारा काम है और विश्वास करने अथवा न करनेमें हम स्वतन्त्र हैं।

भगवान्‌को प्राप्त तो कर सकते हैं, पर उनका वर्णन, चिन्तन ध्यान नहीं कर सकते। प्राप्त इसलिये कर सकते हैं कि हम उनके

ही अंश हैं। भगवान्‌की पूरी महिमाको बतानेवाला कोई शब्द, विशेषण, युक्ति या दृष्टान्त संसारकी किसी भाषामें है ही नहीं। भगवान् तो सर्वथा ही अलौकिक हैं। इसलिये शास्त्रोंसे अथवा सन्तोंसे सुनकर हम भगवान्‌को मान तो सकते हैं, पर जान नहीं सकते। भगवान्‌को केवल विश्वाससे और उनकी कृपासे ही जान सकते हैं[१]। इसके सिवाय और कोई उपाय है ही नहीं।

वास्तवमें किसी-न-किसीपर विश्वास किये बिना मनुष्य रह सकता ही नहीं। अगर वह भगवान्‌पर विश्वास नहीं करेगा तो फिर अपने-आपपर अथवा संसारपर विश्वास करेगा। अपने-आपपर विश्वास करनेसे अगर वह शरीरको अपना स्वरूप मान लेगा तो उससे सम्पूर्ण दोषोंकी उत्पत्ति होगी—**'देहाभिमानिनि सर्वे दोषाः प्रादुर्भवन्ति'**[२]। शरीर-संसारपर विश्वास करना महान् घातक है। शरीर-संसारपर विश्वास करके ही जीव जन्म-मरणरूप बन्धनमें पड़ा है, अन्य कोई कारण नहीं है। इसी तरह भगवान्‌पर विवेक-विचार करना भी महान् घातक है; क्योंकि ऐसा करनेसे मनुष्य भगवान्‌को बुद्धिका विषय बना लेगा और कोरी बातें सीख जायगा, हाथ कुछ लगेगा नहीं! सीखा हुआ ज्ञान अभिमान पैदा करता है और भगवान्‌से विमुख करता है, जो मनुष्यके पतनका हेतु है।

---

१. सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥
(मानस, अयोध्या० १२७। २)

२. अगर मनुष्य अपने-आपको शरीर मानकर उसपर विश्वास करेगा तो उसका वही परिणाम होगा, जो संसारपर विश्वास करनेका होता है; क्योंकि शरीर और संसार एक हैं। अगर वह अपने-आपको सत्तामात्र मानकर विश्वास करेगा तो उसका वही परिणाम होगा, जो परमात्मापर विश्वास करनेका होता है; क्योंकि अपनी सत्ता और परमात्माकी सत्ता एक है।

संसारपर विश्वास करनेसे सम्पूर्ण दोषोंकी उत्पत्ति होती है। जैसे, वस्तुपर विश्वास करनेसे लोभ उत्पन्न होता है। व्यक्ति (शरीर) पर विश्वास करनेसे मोह उत्पन्न होता है। परिस्थितिपर विश्वास करनेसे अभिमान उत्पन्न होता है कि 'मैं बड़ा धनी हूँ, ऊँचे पदवाला हूँ' आदि, अथवा दीनता उत्पन्न होती है कि 'मेरे पास कुछ नहीं है, मैं बड़ा अभागा हूँ' आदि। अवस्थापर विश्वास करनेसे परिच्छिन्नता उत्पन्न होती है कि 'मैं बालक हूँ, मैं जवान हूँ' आदि। यद्यपि कोई भी मनुष्य दोषी नहीं बनना चाहता, तथापि नाशवान्‌पर विश्वास करके वह न चाहते हुए भी दोषी बन ही जाता है। कारण कि नाशवान्‌पर विश्वास ही एक ऐसा दोष है, जिससे अनन्त दोष पैदा होते हैं।

मनुष्य देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, घटना, परिस्थिति और अवस्थाके परिवर्तनका भी अनुभव करता है और अभावका भी। फिर भी वह उसपर विश्वास करता है तो यह अन्धविश्वास है। वास्तवमें विश्वास अन्धा ही होता है। विश्वासकी आँख नहीं होती और जहाँ आँख होती है, वहाँ विश्वास नहीं होता। कारण कि जो प्रत्यक्ष दीखता है, उसपर विश्वास क्या करें? परन्तु जैसा दीखता है, वैसा न मानकर और तरहसे मानना 'अन्धविश्वास' कहलाता है; जैसे—संसार प्रत्यक्ष बदलते हुए और नष्ट होते हुए दीखता है, फिर भी उसपर विश्वास करना 'अन्धविश्वास' है। विवेक-विरुद्ध विश्वास ही अन्धविश्वास होता है। इस अन्धविश्वासका परिणाम यह होता है कि वह अधर्मको धर्म और उलटेको सुलटा मान लेता है*! वह पराधीनताको स्वाधीनता, तुच्छताको श्रेष्ठता, पतनको उत्थान मान लेता है। मनुष्य

---

* अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥ (गीता १८। ३२)

भगवान्‌का अंश होनेके नाते स्वयं बड़ा है, पर संसारपर विश्वास करके वह उसके अधीन हो जाता है, छोटा हो जाता है और इसको अपना बड़प्पन मान लेता है। संसारमें जितना दुःख हो रहा है, सन्ताप हो रहा है, अनर्थ हो रहा है, जन्म-मरण हो रहा है, वह सब संसारपर विश्वास करनेसे ही हो रहा है।

मनुष्य सोचता है कि हमारे पास धन हो जायगा तो हम बड़े आदमी हो जायँगे। जिसके पास थोड़ा धन हो, उसको छोटी पार्टी कहते हैं और जिसके पास ज्यादा धन हो, उसको बड़ी पार्टी कहते हैं तो बड़ा धन ही हुआ, पार्टीकी तो फजीती हुई! तात्पर्य है कि अगर धनके कारण मनुष्य अपनेको बड़ा मानता है तो धन बड़ा हुआ, मनुष्य छोटा (निकृष्ट) हुआ। पदके कारण अपनेको बड़ा मानता है तो पद बड़ा हुआ, वह छोटा हुआ। चेलोंके कारण अपनेको बड़ा मानता है तो चेले बड़े हुए, वह छोटा हुआ। लोग हमें बहुत मानते हैं, इसलिये हम बड़े हो गये तो वास्तवमें लोग बड़े हुए, खुद तो छोटा ही हुआ। हम ब्राह्मण हैं, इसलिये हम बड़े हैं तो वास्तवमें जाति बड़ी हुई, खुद तो छोटा ही हुआ। हम साधु हैं, इसलिये हम बड़े हैं तो वास्तवमें आश्रम बड़ा हुआ, खुद तो छोटा ही हुआ। हम मिनिस्टर हैं, इसलिये हम बड़े हैं तो वास्तवमें मिनिस्टरी बड़ी हुई, खुद तो छोटा ही हुआ। इस प्रकार बल, विद्या, मान, आदर, प्रशंसा आदि जिस चीजसे मनुष्य अपनेको बड़ा मानता है, वह चीज तो बड़ी हो जाती है और मनुष्य छोटा हो जाता है। परन्तु छोटा होनेपर भी वह अपनेको बड़ा मान लेता है! नाशवान्‌के सम्बन्धसे उसको यह होश ही नहीं रहता कि दूसरी वस्तुके कारण मैं बड़ा कैसे हुआ? स्वयं अविनाशी और अपरिवर्तनशील होते हुए भी वह विनाशी और परिवर्तनशीलसे अपनी उन्नति, बड़प्पन मानता है—

यह कितने आश्चर्यकी बात है! सांसारिक वस्तुओंसे अपनेको बड़ा मानना वास्तवमें हमारी फजीती है, पतन है, परतन्त्रता है, निन्दा है, तुच्छता है।

मनुष्य जिस वस्तुकी इच्छा करता है, उसीके पराधीन हो जाता है। इच्छा करनेवाला तो छोटा हो जाता है, पर इच्छित वस्तु बड़ी हो जाती है। परन्तु वह भगवान्‌की इच्छा करता है तो वह बड़ा हो जाता है अर्थात् उसका वास्तविक बड़प्पन प्रकट हो जाता है। कारण कि भगवान् बड़े हैं, इसलिये वे दूसरेको भी बड़ा ही बनाते हैं। परन्तु संसार तुच्छ है, इसलिये वह दूसरेको भी तुच्छ ही बनाता है।

प्रकृति और उसका कार्य शरीर तथा संसार 'पर' अर्थात् दूसरा है। जो 'पर' को लेकर अपनेको बड़ा मानता है, वह वास्तवमें पराधीन ही हो जाता है। परन्तु भगवान् 'स्वकीय' अर्थात् अपने हैं। जो अपना होता है, उसकी अधीनता पराधीनता नहीं होती। जैसे माँ अपनी होती है तो उसके अधीन होना गुण है, अवगुण नहीं है। लोग भी उसकी प्रशंसा करते हैं कि यह मातृभक्त अथवा पितृभक्त है। उसकी कोई निन्दा नहीं करता कि यह तो माँका गुलाम है! कारण कि शरीरकी दृष्टिसे माता-पिता हमसे बड़े हैं। भगवान् स्वरूपकी दृष्टिसे अपने हैं, इसलिये भगवान्‌की अधीनता पराधीनता नहीं है, प्रत्युत स्वाधीनताका मूल है, स्वाधीन होनेका खास उपाय है। परन्तु जो सुख लेनेकी इच्छासे संसार या भगवान्‌को अपना मानता है, वह पराधीन हो जाता है। सुख चाहनेवाला कभी स्वाधीन नहीं हो सकता। कारण कि 'पर' (शरीर)-के अधीन हुए बिना सुखका भोग हो सकता ही नहीं।

'पर' को अपना मानना पराधीनताका मूल है। जबतक हम

शरीरको अपना मानते रहेंगे, तबतक पराधीनता कभी छूटेगी नहीं, छूट सकती ही नहीं। शरीरके छूटनेपर भी पराधीनता नहीं छूटेगी। शरीर ('पर') तो बदलता रहेगा, पर पराधीनता निरन्तर रहेगी। शरीर टिकेगा नहीं और पराधीनता मिटेगी नहीं। अगर कोई कहे कि मुक्ति (स्वाधीनता) पानेके लिये तो शरीरकी सहायता लेनी आवश्यक है, तो यह मान्यता भी ठीक नहीं है। स्वाधीनताका साधन पराधीन कैसे हो सकता है? पराधीनताके द्वारा स्वाधीनता कैसे प्राप्त हो सकती है? अतः मुक्तिको, तत्त्वज्ञानको, प्रेमको प्राप्त करनेमें शरीर सहायक नहीं है, प्रत्युत शरीरका त्याग (सम्बन्ध-विच्छेद) सहायक है। त्यागका अर्थ है—शरीरमें अहंता-ममताका त्याग। बन्धन अहंता-ममतासे होता है, शरीरसे नहीं। शरीरको सत्ता और महत्ता देकर उसको अपना मानते हुए कभी मुक्ति नहीं हो सकती। इसलिये शरीरको आवश्यकतानुसार अन्न-जल-वस्त्र तो देना है, पर शरीरसे सम्बन्ध जोड़कर अन्न-जल-वस्त्र लेनेवाला नहीं बनना है। देनेवाला मालिक होता है और लेनेवाला गुलाम होता है। शरीरकी सेवा करनेवाला परतन्त्र नहीं होता, प्रत्युत उससे कुछ चाहनेवाला परतन्त्र होता है। सेवा करनेवाला तो ऊँचा उठ जाता है, पर लेनेकी इच्छावालेका पतन ही होता है।

संसार तो दूसरेको पराधीन बनाता है, पर भगवान् किसीको कभी अपने पराधीन नहीं बनाते, प्रत्युत उसको अपने समान, अपना सखा बनाते हैं, जैसे, सुग्रीव भोगी था, विभीषण साधक था और निषादराज सिद्ध था, पर भगवान्ने उन तीनोंको ही अपना सखा बनाया। किसीको भी अपना चेला (अधीन) नहीं बनाया। भगवान् जीवको अपना सखा ही मानते हैं। उपनिषद्में आया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

(मुण्डक० ३।१।१,श्वेताश्वतर० ४।६)

भगवान् जिस रीतिसे दूसरेको अपने समान बनाते हैं, उस रीतिसे दूसरा कोई अपने समान बना सकता ही नहीं। दूसरे तो अपनी वस्तुएँ देकर अपने बराबर बनाते हैं, पर भगवान् अपने-आपको देकर अपने बराबर बनाते हैं। जैसे, कोई राजा किसीको अपने समान बनाता है तो उसको अपना आधा राज्य दे देता है, ऐसा नहीं कि उसको पूरा राज्य देकर खुद उसका दास बन जाय। परन्तु भगवान् अपने-आपको दे देते हैं और खुद भक्तके दास हो जाते हैं—

'मैं तो हूँ भगतन को दास, भगत मेरे मुकुटमणि'

'अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।'

(श्रीमद्भा० ९।४।६३)

'हे द्विज! मैं सर्वथा भक्तोंके अधीन हूँ, स्वतन्त्र नहीं हूँ।'

जैसे माँ प्रेमके कारण बालकके वशमें हो जाती है, ऐसे ही भगवान् प्रेमके कारण भक्तके वशमें हो जाते हैं। भगवान्का स्वभाव है—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४।११)। 'जो जिस प्रकार मेरी शरण लेते हैं, मैं उन्हें उसी प्रकार आश्रय देता हूँ।' इसलिये जो भगवान्के अधीन होता है, भगवान् उसके अधीन हो जाते हैं, उसको सबसे बड़ा बना देते हैं।

'कोयला होय नहिं ऊजला सौ मन साबुन लगाय'—कोयलेपर सौ मन साबुन लगा दें तो भी वह साफ नहीं होगा; परन्तु उसको अग्निमें रख दें तो वह चमकने लगेगा; क्योंकि वह अग्निसे अलग होनेपर ही काला हुआ है। अगर चमकते कोयले (अंगार) से लकीर खींची जाय तो वह भी काली ही निकलेगी;

क्योंकि वह अग्निसे अलग हो गयी। ऐसे ही जीव भगवान्‌से अलग होनेपर ही काला, तुच्छ हुआ है। अगर वह भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़ ले तो वह चमकने लगेगा। तात्पर्य है कि जीव भगवान्‌से अलग होकर अपनेको कितना ही बड़ा मान ले, त्रिलोकीका अर्थात् अनन्त ब्रह्माण्डोंका अधिपति हो जाय तो भी वास्तवमें वह छोटा-का-छोटा, त्रिलोकीका गुलाम ही रहेगा। परन्तु वह भगवान्‌का दास हो जाय तो बड़े-से-बड़ा (नरसे नारायण) हो जायगा। नाशवान्‌के साथ मिलनेसे अविनाशी (जीव) की फजीती ही है। उसकी इज्जत तो अविनाशीके साथ मिलनेसे ही है।

संसारमें भगवान् और उनके भक्त—ये दो ही दूसरेको बड़ा बनानेवाले हैं—

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥
स्वारथ मीत सकल जग माहीं। सपनेहुँ प्रभु परमारथ नाहीं॥

(मानस, उत्तर० ४७। ३)

ये दोनों खुद बड़े हैं, इसलिये दूसरोंको भी बड़ा ही बनाते हैं, किसीको भी छोटा नहीं बनाते। कारण कि जो खुद छोटा होता है, वही दूसरेको छोटा बनाता है। जो खुद पराधीन होता है, वही दूसरेको पराधीन बनाता है। संसार कभी किसीको बड़ा बनाता ही नहीं, बना सकता ही नहीं। इसलिये जो संसारका आश्रय लेता है, वह छोटा हो जाता है। परन्तु जो भगवान्‌का आश्रय लेता है, उनके साथ सम्बन्ध जोड़ता है, वह बड़ा हो जाता है—

बड़ सेयाँ बड़ होत है, ज्यों बामन भुज दंड।
तुलसी बड़े प्रताप ते, दंड गयउ ब्रह्मंड॥

जो सच्चे सन्त होते हैं, वे अपनी ओरसे किसीको अपना

चेला नहीं बनाते। पारस तो लोहेको सोना बनाता है, अपने समान (पारस) नहीं बनाता; परन्तु सन्त दूसरेको भी अपने समान (सन्त) ही बनाते हैं—

पारस में अरु संत में, बड़ो अंतरो जान।
वह लोहा कंचन करे, यह कर आपु समान॥

ऐसे सच्चे सन्तका चेला बनना गुलामी नहीं है, प्रत्युत गुरुभक्ति है। ऐसा गुरुभक्त दुनियाका गुरु हो जाता है। परन्तु जिस सन्तके मनमें यह बात आती है कि मेरे इतने चेले हैं, इसलिये मैं बड़ा हूँ अथवा उसमें दूसरेको अपना चेला बनानेकी इच्छा होती है तो वह वास्तवमें चेलादास है, गुरु नहीं है। सच्चा गुरु चेलेके अधीन नहीं होता, चेलेके कारण अपनेको बड़ा नहीं मानता और चेलेको अपने अधीन नहीं बनाता। उसका यह स्वभाव भी भगवान्‌से ही आया है।

भगवान्‌पर विश्वास करनेसे ही मनुष्य बड़ा होता है। भगवान्‌के सिवाय वह कहीं भी विश्वास करेगा तो उसकी फजीती-ही-फजीती होगी। इसलिये संसार विश्वास करनेयोग्य नहीं है। उसकी तो सेवा करना अथवा विचारपूर्वक त्याग करना ही उचित है। कर्मयोगी संसारको सच्चा मानकर निष्कामभावसे संसारकी ही वस्तुको संसारकी सेवामें लगा देता है और ज्ञानयोगी आत्माको ही सच्चा मानकर विचारपूर्वक शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद करके असंगताका अनुभव करता है तो उन दोनोंकी मुक्ति हो जाती है। तात्पर्य है कि जो ईश्वरको न मानकर कर्मयोग अथवा ज्ञानयोगका साधन करते हैं, उनकी भी मुक्ति हो जाती है, पराधीनता मिट जाती है। परन्तु भक्ति (प्रेम)-की प्राप्ति तो ईश्वरको सच्चा माननेसे ही होती है। मुक्तिमें संसारका सम्बन्ध छूटता है और भक्तिमें भगवान्‌से सम्बन्ध जुड़ता है।

कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनोंका परिणाम एक ही होता है (गीता ५।४-५) अर्थात् दोनोंके परिणाममें मनुष्य जन्म-मरणसे मुक्त हो जाता है, सम्पूर्ण दुःखोंसे छूट जाता है, पराधीनतासे छूट जाता है। मुक्त होनेपर संसारकी निवृत्ति तो हो जाती है, पर प्राप्ति कुछ नहीं होती। परन्तु भक्तियोगसे संसारकी निवृत्तिके साथ-साथ परमात्माकी तथा उनके प्रेमकी प्राप्ति भी हो जाती है। मुक्तिमें तो जीव स्वयं रसका अनुभव करनेवाला होता है, पर भक्ति (प्रेम) में वह रसका दाता हो जाता है, भगवान्‌को भी रस देनेवाला हो जाता है! कारण कि ज्ञानस्वरूप भगवान् ज्ञानके भूखे (जिज्ञासु) नहीं हैं, प्रत्युत प्रेमके भूखे (प्रेम-पिपासु) हैं—'**एकाकी न रमते**' (बृहदारण्यक० १।४।३)। अतः प्रेमकी प्राप्ति होनेपर प्रेमी भक्त भगवान्‌को भी तृप्त करनेवाला हो जाता है। परन्तु उसमें यह विशेषता भी भगवान्‌से ही आती है, उसकी अपनी नहीं होती। तात्पर्य है कि जैसे कोई मनुष्य गंगाजलसे गंगाकी पूजा करे तो इसमें गंगाकी ही विशेषता हुई, खुद मनुष्यकी क्या विशेषता हुई? ऐसे ही भक्त भगवान्‌के दिये हुए प्रेमसे ही भगवान्‌की भूख मिटाता है।

भगवान्‌ने मनुष्यको तीन शक्तियाँ प्रदान की हैं—करनेकी शक्ति, जाननेकी शक्ति और माननेकी शक्ति। प्राप्त करनेकी शक्ति मनुष्यमें नहीं है, इसलिये संसारकी कोई भी वस्तु प्राप्त नहीं होती, हो सकती ही नहीं। संसार एक क्षण भी नहीं टिकता, निरन्तर बदलता रहता है, फिर वह प्राप्त कैसे हो सकता है? अगर संसार वास्तवमें प्राप्त होता तो कभी बिछुड़ता नहीं और हमारी भी सदाके लिये तृप्ति हो जाती। परन्तु संसारसे कभी किसीकी तृप्ति नहीं होती, प्रत्युत तृष्णा बढ़ती है—'**जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई**'। भोगोंसे होनेवाली

थकावटको ही मनुष्य भूलसे तृप्ति मान लेता है; जैसे—भोजन करते-करते जब और खानेकी सामर्थ्य नहीं रहती अर्थात् थकावट (असमर्थता) हो जाती है, तब उसको तृप्ति कह देते हैं। परन्तु वास्तवमें यह तृप्ति नहीं होती, इसलिये पुनः भूख लग जाती है। प्राप्ति वास्तवमें परमात्माकी ही होती है, जो एक बार होती है और सदाके लिये होती है। कारण कि वास्तवमें परमात्मा सबको नित्य प्राप्त हैं, केवल अप्राप्तिका वहम मिटता है।

'करने' और 'जानने' की शक्तिका सदुपयोग करके मनुष्य शरीर-संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद और स्वरूपका बोध कर सकता है। परन्तु 'मानने' की शक्तिका सदुपयोग करनेसे संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद और स्वरूप-बोधके साथ-साथ भगवत्प्रेमकी प्राप्ति भी हो जाती है। तात्पर्य है कि यद्यपि लौकिक साधन (कर्मयोग और ज्ञानयोग) मनुष्यके करनेका है, तथापि भगवान्पर विश्वास करनेसे जो काम साधकको करना चाहिये, वह काम (मुक्ति) भी भगवान् कर देते हैं और जो काम भगवान्के करनेका है, वह काम (दर्शन और प्रेम) भी भगवान् कर देते हैं* (गीता १०।१०-११)। जैसे किसी नगरमें एक व्यक्ति अपने घरमें बन्द है। उस नगरके सब घर नगरकी चहारदीवारी (परकोटे) में बन्द हैं। अगर वह व्यक्ति अपने घरसे निकलना चाहे तो यह उसके हाथकी बात है, पर नगरकी चहारदीवारीसे निकलना उसके हाथकी बात नहीं है, प्रत्युत वहाँके राजाके हाथकी बात है। अगर राजा चाहे तो वह चहारदीवारीका दरवाजा भी

---

* मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥

(मानस, अरण्य० ३६।५)

'जीव पाव निज सहज सरूपा'—यह कर्मयोग और ज्ञानयोगका फल है।

खोल सकता है और उस व्यक्तिके घरका दरवाजा भी खोल सकता है, न खुले तो तोड़ भी सकता है। ऐसे ही भगवान् भक्तका सब काम कर देते हैं, उसके करनेयोग्य काम भी कर देते हैं और अपने करनेयोग्य काम भी कर देते हैं! तात्पर्य है कि विवेक-विचारसे तो केवल लौकिक साधन सिद्ध होता है, पर विश्वाससे लौकिक और अलौकिक दोनों साधन सिद्ध हो जाते हैं। इसलिये माननेकी शक्ति (विश्वास) क्रियाशक्ति और विवेकशक्तिसे भी श्रेष्ठ और विलक्षण है।

शरीर भी हमारा नहीं है, मन-बुद्धि-प्राण भी हमारे नहीं हैं और उनके द्वारा होनेवाले चिन्तन-ध्यान-समाधि भी हमारे नहीं हैं—इस प्रकार 'पर' को अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरको अपना न माननेसे मनुष्य स्वाधीन (मुक्त) हो जाता है, उसकी पराधीनता सर्वथा मिट जाती है। स्वाधीन होनेपर मनुष्य भगवत्प्रेमका अधिकारी हो जाता है; क्योंकि जो पराधीन है, वह प्रेम नहीं करता, प्रत्युत मोह करता है। प्रेमकी प्राप्ति 'पर' के द्वारा नहीं होती, प्रत्युत 'पर' के त्यागसे और 'स्वकीय' के द्वारा होती है। परन्तु भगवान्‌की कृपासे स्वाधीन अर्थात् मुक्त होनेसे पहले भी प्रेमकी प्राप्ति हो सकती है। जब भक्त विश्वासपूर्वक केवल भगवान्‌को अपना मान लेता है, तब उसका भगवान्‌में प्रेम हो जाता है। कारण कि प्रेमकी प्राप्ति अपने बल, तप, योग्यता आदिसे नहीं होती, प्रत्युत भगवान्‌को अपना माननेसे होती है। बल, तप, योग्यता आदिके द्वारा जो वस्तु मिलेगी, वह बल, तप आदिसे कम मूल्यकी ही होगी। अगर किसी साधनसे साध्य मिलेगा तो वह साधनसे छोटा ही होगा। इसलिये भगवान्‌को अपना माने बिना और कोई प्रेम-प्राप्तिका उपाय हो ही नहीं सकता। भगवान् भक्तके अपनेपनको ही देखते हैं, यह नहीं

देखते कि वह बद्ध है या मुक्त*। जैसे बालक माँको पुकारता है तो माँ बच्चेकी योग्यता, बल, विद्या आदिको न देखकर उसके अपनेपनको देखती है और उसको गोदमें ले लेती है, ऐसे ही जब भक्त अपनी स्थितिसे असन्तुष्ट होकर, पराधीनतासे व्याकुल होकर भगवान्‌को पुकारता है, तब भगवान् उसको अपना प्रेम प्रदान कर देते हैं। तात्पर्य है कि शरीर-संसारको अपना न माननेसे लौकिक साधन सिद्ध हो जाता है और भगवान्‌को अपना माननेसे अलौकिक साधन सिद्ध हो जाता है।

जिनमें मुक्तिकी इच्छा है और जो मुक्तिको ही सर्वोपरि मानते हैं, ऐसे साधक प्रेम (भक्ति)-की प्राप्ति तो दूर रही, प्रेमकी बातको भी समझ नहीं सकते! जैसे स्वार्थी आदमीकी दृष्टि दूसरेके हितकी तरफ जाती ही नहीं, ऐसे ही लौकिक साधनावाले मनुष्यकी दृष्टि अलौकिक प्रेमकी तरफ जाती ही नहीं। उसमें प्रेम-तत्त्वको समझनेकी सामर्थ्य ही नहीं होती। प्रेमकी बातको वही समझ सकता है, जिसके भीतर भक्तिके संस्कार हैं, भगवान्‌पर दृढ़ विश्वास है, भगवान्‌की कृपाका आश्रय है और जो भक्ति, भक्त और भगवान्‌का तिरस्कार नहीं करता, ऐसा साधक अगर मुक्त हो जाय तो उसको मुक्तिमें सन्तोष नहीं होता। अतः भगवान् कृपापूर्वक उसके मुक्तिके अखण्डरसको फीका करके प्रेमका अनन्तरस प्रदान कर देते हैं। अगर वह पहलेसे ही भगवान्‌पर दृढ़ विश्वास करके अपनापन कर ले तो भगवान् कृपापूर्वक उसको मुक्ति और भक्ति (प्रेम) दोनों प्रदान कर देते हैं।

---

* रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिए की॥
(मानस, बाल० २९।३)

७. भगवल्लीलाका तत्त्व

कर्म, क्रिया और लीला—तीनों एक दीखते हुए भी वास्तवमें सर्वथा भिन्न हैं। जो कर्तृत्वाभिमानपूर्वक किया जाय तथा अनुकूल-प्रतिकूल फल देनेवाला हो, वह 'कर्म' होता है। जो कर्तृत्वाभिमानपूर्वक न की जाय तथा जो फल देनेवाली भी न हो, वह 'क्रिया' होती है; जैसे—श्वासोंका चलना, आँखोंका खुलना और बन्द होना आदि। जो क्रिया कर्तृत्वाभिमान तथा फलेच्छासे रहित तो होती ही है, साथ-साथ दिव्य तथा दुनियामात्रका हित करनेवाली भी होती है, वह 'लीला' होती है। सांसारिक लोगोंके द्वारा 'कर्म' होता है, मुक्त पुरुषोंके द्वारा 'क्रिया' होती है और भगवान्‌के द्वारा 'लीला' होती है—

'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्'

(ब्रह्मसूत्र २।१।३३)

'ईश्वरका सृष्टि रचना आदि कार्य लोकमें तत्त्वज्ञ महापुरुषोंकी तरह केवल लीलामात्र है।'

भगवान्‌की छोटी-से-छोटी तथा बड़ी-से-बड़ी प्रत्येक क्रिया 'लीला' होती है। लीलामें भगवान् सामान्य मनुष्यों-जैसी क्रिया करते हुए भी निर्लिप्त रहते हैं*। भगवान्‌की लीला दिव्य होती है—**'जन्म कर्म च मे दिव्यम्'** (गीता ४।९)। यह दिव्यता देवताओंकी दिव्यतासे भी विलक्षण होती है। देवताओंकी दिव्यता मनुष्योंकी अपेक्षासे होनेके कारण सापेक्ष और सीमित

---

* तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥ (गीता ४।१३)

'उस (सृष्टि-रचना आदि)-का कर्ता होनेपर भी मुझ अव्यय परमेश्वरको तू अकर्ता जान।'

होती है, पर भगवान्‌की दिव्यता निरपेक्ष और असीम होती है। यद्यपि जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ, भगवत्प्रेमी महापुरुषोंकी क्रियाएँ भी दिव्य होती हैं, तथापि वे भी भगवल्लीलाके समान नहीं होतीं। भगवान्‌की साधारण लौकिक लीला भी अत्यन्त अलौकिक होती है। जैसे, भगवान्‌की रासलीला लौकिक दीखती है, पर उसको पढ़ने-सुननेसे साधककी कामवृत्तिका नाश हो जाता है*।

यह जगत् भगवान्‌का आदि अवतार है—'**आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य**' (श्रीमद्भा० २।६।४१)। तात्पर्य है कि भगवान् ही जगत्-रूपसे प्रकट हुए हैं। परन्तु जीवने भोगासक्तिके कारण जगत्‌को भगवद्रूपसे स्वीकार न करके नाशवान् जगत्-रूपसे ही धारण कर रखा है—'**जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७।५)। इस धारणाको मिटानेके लिये साधकको दृढ़तासे ऐसा मानना चाहिये कि जो दीख रहा है, वह भगवान्‌का स्वरूप है और जो हो रहा है, वह भगवान्‌की लीला है। ऐसा मानने (स्वीकार करने) पर जगत् जगत्-रूपसे नहीं रहेगा और 'भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है'—इसका अनुभव हो जायगा। दूसरे शब्दोंमें, संसार लुप्त हो जायगा और केवल भगवान् रह जायँगे। कारण कि प्रत्येक वस्तु एवं व्यक्तिको भगवान्‌का स्वरूप

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा। (गीता ४।१४)

'कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिये मुझे कर्म लिप्त नहीं करते।'

* विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद् यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥
(श्रीमद्भा० १०।३३।४०)

'परीक्षित्! जो धीर पुरुष व्रजयुवतियोंके साथ भगवान् श्रीकृष्णके इस चिन्मय रास-विलासका श्रद्धाके साथ बार-बार श्रवण और वर्णन करता है, उसे भगवान्‌के चरणोंमें पराभक्तिकी प्राप्ति होती है और वह बहुत ही शीघ्र अपने हृदयके रोग—कामविकारसे छुटकारा पा जाता है। उसका कामभाव सदाके लिये नष्ट हो जाता है।'

और प्रत्येक क्रियाको भगवल्लीला माननेसे भोगासक्ति, राग-द्वेष नहीं रहेंगे। भोगासक्तिका नाश होनेपर जो क्रियाएँ पहले लौकिक दीखती थीं, वही क्रियाएँ अलौकिक भगवल्लीला-रूपसे दीखने लगेंगी और जहाँ पहले भोगासक्ति थी, वहाँ भगवत्प्रेम हो जायगा।

साधकको ऐसा मानना चाहिये कि भगवान् जैसा रूप धारण करते हैं, उसीके अनुरूप लीला करते हैं*। जब वे अर्चावतार अर्थात् मूर्तिका रूप धारण करते हैं, तब वे मूर्तिकी तरह ही

---

* भगवान् श्रीकृष्ण उत्तंक ऋषिसे कहते हैं-

धर्मसंरक्षणार्थाय धर्मसंस्थापनाय च॥
तैस्तैर्वेषैश्च रूपैश्च त्रिषु लोकेषु भार्गव।

(महाभारत, आश्व० ५४।१३-१४)

'मैं धर्मकी रक्षा और स्थापनाके लिये तीनों लोकोंमें बहुत-सी योनियोंमें अवतार धारण करके उन-उन रूपों और वेषोंद्वारा तदनुरूप बर्ताव करता हूँ।'

यदा त्वहं देवयोनौ वर्तामि भृगुनन्दन।
तदाहं देववत् सर्वमाचरामि न संशयः॥
यदा गन्धर्वयोनौ वा वर्तामि भृगुनन्दन।
तदा गन्धर्ववत् सर्वमाचरामि न संशयः॥
नागयोनौ यदा चैव तदा वर्तामि नागवत्।
यक्षराक्षसयोन्योस्तु यथावद् विचराम्यहम्॥

(महा०, आश्व० ५४।१७—१९)

'भृगुनन्दन! जब मैं देवयोनिमें अवतार लेता हूँ, तब देवताओंकी ही भाँति सारे आचार-विचारका पालन करता हूँ, इसमें संशय नहीं है।'

'जब मैं गन्धर्वयोनिमें प्रकट होता हूँ, तब मेरे सारे आचार-विचार गन्धर्वोंके ही समान होते हैं, इसमें सन्देह नहीं है।'

'जब मैं नागयोनिमें जन्म ग्रहण करता हूँ, तब नागोंकी तरह बर्ताव करता हूँ। यक्षों और राक्षसोंकी योनियोंमें प्रकट होनेपर मैं उन्हींके आचार-विचारका यथावत्-रूपसे पालन करता हूँ।'

अचल रहनेकी लीला करते हैं। अगर वे अचल नहीं रहेंगे तो वह अर्चावतार कैसे रहेगा? भगवान्‌ने राम, कृष्ण आदि रूप भी धारण किये और मत्स्य, कच्छप, वराह आदि रूप भी धारण किये। उन्होंने जैसा रूप धारण किया, वैसी ही लीला की। जैसे, वराहावतारमें भगवान्‌ने सूअर बनकर लीला की और वामनावतारमें ब्रह्मचारी ब्राह्मण बनकर लीला की।

भगवल्लीलाको पढ़ने-सुननेसे अन्तःकरण शुद्ध होता है, संसारकी आसक्ति मिटती है और भगवान्‌में प्रेम होता है। ज्ञानस्वरूप भगवान् शंकर, ब्रह्माजी, सनकादिक ऋषि, देवर्षि नारद आदि भी भगवान्‌की लीलाओंको गाकर और सुनकर प्रेममग्न हो जाते हैं। भगवान् अवतार लेकर जिन स्थानोंमें लीलाएँ करते हैं, वे स्थान भी इतने पवित्र हो जाते हैं कि उनमें श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निवास करनेसे मनुष्यका कल्याण हो जाता है। इसका कारण यह है कि भगवान् मात्र जीवोंका कल्याण करनेके उद्देश्यसे ही अवतार लेकर लीलाएँ करते हैं—'**नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।**' (श्रीमद्भा० १०।२९।१४)।

८. आकस्मिक और अकाल मृत्यु

एक 'आकस्मिक मृत्यु' होती है और एक 'अकाल मृत्यु' होती है। दोनोंका भेद न जाननेके कारण लोग आकस्मिक मृत्युको भी अकाल मृत्यु कह देते हैं, जबकि वह अकाल मृत्यु होती नहीं। इसलिये दोनोंका भेद जानना आवश्यक है।

कोई आदमी मरना चाहता नहीं, पर अचानक उसकी मृत्यु हो जाय अर्थात् वह किसी दुर्घटना (एक्सीडेंट) में मर जाय, मकानसे गिरकर मर जाय, साँप काटनेसे मर जाय, नदीमें डूबकर मर जाय, बिजलीसे मर जाय, भूकम्प आदिसे मर जाय तो यह उसकी '**आकस्मिक मृत्यु**' है।

कोई आदमी आत्महत्या कर ले अर्थात् मरनेकी इच्छासे फाँसी लगा ले, जहर खा ले, रेलके नीचे आ जाय, छतसे कूद जाय, नदीमें कूद जाय अथवा अन्य किसी उपायसे जान-बूझकर मर जाय तो यह उसकी '**अकाल मृत्यु**' है।

आकस्मिक मृत्यु तो प्रारब्धके अनुसार आयु पूरी होनेपर ही होती है, पर अकाल मृत्यु आयुके रहते हुए ही हो सकती है। अकाल मृत्यु अर्थात् आत्महत्या एक नया घोर पाप-कर्म है, प्रारब्ध नहीं। जो आत्महत्या करता है, उसको एक मनुष्यकी हत्याका पाप लगता है, जिसका परलोकमें भयंकर दण्ड भोगना पड़ता है। भगवान्‌ने अपनी प्राप्तिके लिये, अपना उद्धार करनेके लिये ही कृपापूर्वक मनुष्यशरीर दिया है*। ऐसे दुर्लभ मनुष्य शरीरको आत्महत्या करके नष्ट कर देना महापाप है, बड़ा भारी पाप है!

---

* बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥
(मानस, उत्तर० ४३।४)

आत्महत्या करनेपर भी कभी-कभी मनुष्य बच जाता है, मरता नहीं। इसमें यह कारण रहता है कि उसके जीवनका सम्बन्ध किसी दूसरे प्राणीके साथ है। जैसे, भविष्यमें किसीका बेटा होनेवाला हो तो आत्महत्याका प्रयास करनेपर भी मरेगा नहीं; क्योंकि आगे होनेवाले बेटेका प्रारब्ध उसको मरने नहीं देगा। ऐसे ही दूसरेका प्रारब्ध साथमें जुड़ा हुआ रहता है तो आत्महत्याकी चेष्टा करनेपर भी वह मरता नहीं। अगर भविष्यमें उसके द्वारा कोई विशेष कार्य होनेवाला हो अथवा प्रारब्धका कोई उत्कट भोग (सुख-दुःख) आनेवाला हो तो आत्महत्याकी चेष्टा करनेपर भी वह मरेगा नहीं। परन्तु उसको एक मनुष्यकी हत्याका पाप तो लगेगा ही और उसका फल दुःख भी बड़ा भारी होगा! जैसे, किसीने जजके सामने बन्दूक करके गोली चला दी, पर गोली जजको लगी नहीं तो भी उसको सजा होती है; क्योंकि उसकी नीयत तो जजको मारनेकी थी। ऐसे ही आत्महत्याकी नीयत होनेमात्रसे पाप लगता है।

आत्महत्या करनेवालेको मरते समय बड़ा भयंकर कष्ट होता है और वह मरनेसे बचना चाहता है कि मैं अब किसी तरह बच जाऊँ, पर बचनेकी सम्भावना रहती नहीं! उसको बड़ा पश्चात्ताप होता है कि मैंने बहुत बड़ी गलती की, पर अब क्या हो! इसलिये आत्महत्याकी इच्छा करना भी घोर पाप है।

कितनी ही आफत आ जाय, कितना ही दुःख हो जाय, कितना ही अपमान हो जाय, आत्महत्याकी इच्छा कभी नहीं

आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥
(मानस, उत्तर० ४४। २-३)

करनी चाहिये। पहले किये कर्मोंके फलस्वरूप जो दुःखदायी परिस्थिति आनेवाली है, वह तो आयेगी ही*। आत्महत्या करके भी उससे कोई बच नहीं सकता। उलटे आत्महत्याका एक नया पाप-कर्म और हो जायगा! परन्तु दुःखदायी परिस्थितिको सहन कर लेंगे तो पुराने पाप नष्ट होंगे और हम शुद्ध हो जायँगे।

कोई भी परिस्थिति सदा रहनेवाली नहीं होती। न सदा सुख रहता है, न सदा दुःख रहता है। सूर्यका उदय होनेके बाद अस्त होना और अस्त होनेके बाद उदय होना प्रकृतिका नियम है। अतः दुःखदायी परिस्थिति आनेपर घबराना नहीं चाहिये—

सुखं च दुःखं च भवाभवौ च लाभालाभौ मरणं जीवितं च।
पर्यायतः सर्वमवाप्नुवन्ति तस्माद् धीरो नैव हृष्येन्न शोचेत्॥

(महाभारत, शान्ति० २५।३१)

'सुख-दुःख, उत्पत्ति-विनाश, लाभ-हानि और जीवन-मरण—ये समय-समयपर क्रमसे सबको प्राप्त होते हैं। इसलिये धीर पुरुष इनके लिये न हर्ष करे, न शोक करे।'

यद्भावि तद्भवत्येव यदभाव्यं न तद्भवेत्।
इति निश्चितबुद्धीनां न चिन्ता बाधते क्वचित्॥

(नारदपुराण, पूर्व०३७।४७)

'जो होनेवाला है, वह होकर ही रहता है और जो नहीं होनेवाला है, वह कभी नहीं होता—ऐसा जिनकी बुद्धिमें निश्चय होता है, उन्हें चिन्ता कभी नहीं सताती।'

---

* अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।
नाभुक्तं क्षीयते कर्म जन्मकोटिशतैरपि॥

'अपने किये हुए शुभ या अशुभ कर्मोंका फल अवश्य ही भोगना पड़ता है। कर्मोंका फल भोगे बिना उनका सैकड़ों-करोड़ों (अनन्त) जन्मोंमें भी नाश नहीं होता।'

जब भगवान्‌का चरणामृत लेते हैं, तब बोलते हैं—

अकालमृत्युहरणं सर्वव्याधिविनाशनम्।
विष्णोः पादोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥

'भगवान् विष्णुका चरणामृत अकालमृत्यु (कुबुद्धि)-का हरण करनेवाला तथा सम्पूर्ण रोगोंका नाश करनेवाला है। उसको ग्रहण करनेवालेका पुनर्जन्म नहीं होता।'

इसलिये सभीको भगवान्‌का चरणामृत लेते रहना चाहिये, जिससे ऐसी (आत्महत्याकी) कुबुद्धि, खोटी बुद्धि पैदा न हो। गंगाजल भगवान् विष्णुके ही चरणोंका जल है। अतः सभीको अपने घरोंमें गंगाजल रखना चाहिये और छोटे-बड़े सबको सुबह-शाम उसका चरणामृत लेना चाहिये।

अगर एक आदमी दूसरे आदमीकी हत्या कर दे तो यह मरनेवालेकी तो आकस्मिक मृत्यु है, पर मारनेवालेका नया पाप है, जिसका भयंकर दण्ड उसको भोगना पड़ेगा। कारण कि किसीके भी प्रारब्धमें ऐसा विधान नहीं होता कि वह अमुक आदमीके हाथसे मरेगा। मरनेवाला आयु पूरी होनेपर किसी भी कारणसे मर सकता है, पर उसको मारनेवाला मुफ्तमें ही निमित्त बनकर पापका भागी हो जाता है। जैसे, न्यायालयने एक आदमीको दस बजे फाँसी देनेका हुक्म दिया। परन्तु एक दूसरे आदमीने उसको जल्लादोंके हाथोंसे छुड़ा लिया और ठीक दस बजे उसकी हत्या कर दी। कारण कि उसके मनमें वैर था; अतः उसने सोचा कि इसको मारकर मैं अपने वैरका बदला भी ले लूँ और सरकारका काम भी कर दूँ। परन्तु ऐसी स्थितिमें उस हत्यारेकी भी फाँसीकी सजा होगी। कारण कि न्यायालयने उसको मारने (फाँसी देने)-का हुक्म जल्लादोंको दिया था, न कि दूसरे आदमीको।

मनुष्य चाहे तो अपनी आयु दूसरेको भी दे सकता है। परन्तु यह अधिकार उसी मनुष्यको है, जिसने परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति कर ली है। जैसे अपनी सम्पत्ति देनेका अधिकार बालिगको ही होता है, नाबालिगको नहीं होता, ऐसे ही अपनी आयु देनेका अधिकार तत्त्वज्ञान होनेपर ही होता है। जबतक तत्त्वज्ञान, परमात्मप्राप्ति, जीवन्मुक्ति न हो, तबतक मनुष्य नाबालिग है और वह अपनी आयु दूसरेको नहीं दे सकता। कारण कि भगवान्‌ने अपना कल्याण करनेके लिये ही आयु दी है, इसलिये उसको अपने तथा दूसरोंके कल्याणमें ही लगाना चाहिये। उसको नष्ट नहीं करना चाहिये।

राजस्थानमें एक सन्त थे। वे और उनकी माँ—दोनों ही तत्त्वज्ञानी थे। जब उनका अन्तसमय नजदीक आया, तब उनकी माँने अपनी आधी उम्र उनको दे दी, जिससे वे पुनः जी उठे। बादमें जब वे मरे तो माँ और बेटा दोनों एक साथ ही मरे! इसलिये जिसको परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो गयी है, ऐसा समर्थ व्यक्ति ही अपनी आयु दूसरेको दे सकता है। परन्तु ऐसा तभी होता है, जब आयु देनेवालेकी, लेनेवालेकी और भगवान्‌की—तीनोंकी मरजी हो। एककी मरजीसे कुछ नहीं होता।

दधीचि ऋषिने देवताओंके हितके लिये अपने प्राण छोड़ दिये, पर उनको पाप नहीं लगा; क्योंकि वे समर्थ थे। रामायणमें आया है—

'समरथ कहुँ नहिं दोषु गोसाईं । रबि पावक सुरसरि की नाईं॥'

(मानस, बाल० ६९।४)

पृथ्वीपर जो मल-मूत्र आदि अशुद्ध वस्तुएँ रहती हैं, उनको भी अपनी किरणोंसे खींचकर सूर्य उनको शुद्ध बना देता है, इसलिये

सूर्य समर्थ है। चन्दन हो या मुर्दा हो, अग्नि सबको जलाकर शुद्ध कर देती है, इसलिये अग्नि समर्थ है। गंगामें नालीका अशुद्ध जल मिल जाय तो वह उसको भी शुद्ध बना देती है, इसलिये गंगा समर्थ है। अतः 'समर्थ' नाम उसका है, जो असमर्थको समर्थ कर दे, अशुद्धको शुद्ध कर दे, अपवित्रको पवित्र कर दे और स्वयं ज्यों-का-त्यों शुद्ध, पवित्र रहे। जो दूसरेको असमर्थ बनाता है, वह तो राक्षस, असुर होता है। जिसके पास धन ज्यादा है, वह भी समर्थ नहीं है। वह बेचारा तो धनका गुलाम है, दयाका पात्र है। ऐसे ही जिसके पास ज्यादा बल है अथवा ऊँचा पद है, वह भी समर्थ नहीं है; क्योंकि वह बल, पद, अधिकार आदिका गुलाम है। उसमें जो समर्थता दीखती है, वह उसकी खुदकी नहीं है, प्रत्युत उसको मिले हुए धन, पद, अधिकार, बल, राज्य आदिकी है, जो कि बिछुड़नेवाले हैं। आगन्तुक वस्तुओंसे अपनेको समर्थ मान लेना बेईमानी है।

कोई स्त्री सती होती है तो उसको आत्महत्याका पाप नहीं लगता; क्योंकि यह आत्महत्या है ही नहीं। सती होनेवाली स्त्री जान-बूझकर नहीं जलती। वह अपनी आयुका नाश नहीं करती, प्रत्युत त्याग करती है। सती होना कोई साधारण बात नहीं है। जिसके भीतर 'सत्' आ जाता है, वह आगके बिना भी जल जाती है और जलते समय उसको कोई कष्ट भी नहीं होता। वर्तमान समयकी एक सत्य घटना है। हरदोई जिलेमें इकनोरा गाँव है। वहाँ एक लड़की अपने मामाके घरपर थी। उसका पति मर गया। उस लड़कीको जब पतिकी मृत्युका समाचार मिला तो उसने मामासे कहा कि मेरेको जल्दी पतिके पास पहुँचा दो। मामाने कहा कि कैसे पहुँचाऊँ? शरीर तो अब जल गया होगा। उसने कहा कि मैं सती होऊँगी? मामाने मना किया तो उसने

अपनी अँगुली दीयेपर रखी। वह अँगुली मोमबत्तीकी तरह जलने लगी। वह बोली कि अगर आप मेरेको सती होनेसे रोकेंगे तो आपका सब घर जल जायगा। मामा डर गया। उस लड़कीने दीवारपर अपनी जलती हुई अँगुलीको बुझाया और घरसे बाहर निकलकर पीपलके नीचे खड़ी हो गयी। उसने लकड़ी माँगी तो किसीने दी नहीं। उसने सूर्यसे प्रार्थना की कि ये मेरेको लकड़ी नहीं देते हैं, आप ही कृपा करके मेरेको अग्नि दो। ऐसा कहते ही उसके शरीरमें अपने-आप आग लग गयी और वह वहीं जल गयी। गाँवके लोगोंने यह सब अपनी आँखोंसे देखा। करपात्रीजी महाराज भी वहाँ गये थे और उन्होंने दीवारपर पड़ी वे काली लकीरें देखीं, जो जलती हुई अँगुली बुझानेसे खिंच गयी थीं, और पीपलके जले हुए पत्ते भी देखे। गीताप्रेसके 'कल्याण'-विभागसे भी एक आदमी वहाँ गया था और उसने इस घटनाको सत्य पाया। उसने वहाँके मुसलमानोंसे पूछा तो उन्होंने भी कहा कि यह सब घटना हमारे सामने घटी है।

राजस्थानके दूधोर गाँवकी एक ठकुरानी थी। जब उसके पतिका शरीर शान्त हुआ तो उसको सत् चढ़ गया। उस समय अंग्रेजोंका शासन था। अतः अंग्रेजोंके भयसे वहाँके लोगोंने कह दिया कि हम सती नहीं होने देंगे। पर उसने स्नान करके शृंगार करना शुरू कर दिया। लोगोंने दरवाजा बन्द कर दिया। राजपूतोंके घरोंके दरवाजे भीतरसे बन्द हुआ करते थे, बाहरसे नहीं। इसलिये दोनों किवाड़ोंकी जो कड़ियाँ थीं, उसमें साँकल डाल दी गयी और उस साँकलको पकड़कर तथा दरवाजेपर पैर देकर दो आदमी खड़े हो गये। उधर वह अच्छी तरहसे शृंगार करके आयी और भीतरसे दरवाजेको झटका दिया तो आदमीसहित वह दरवाजा नीचे आ पड़ा! वह बाहर निकल गयी। रास्तेमें

जितने मन्दिर थे, उनको नमस्कार करती हुई वह श्मशान-भूमि पहुँची। वहाँ उसके पतिका शव जल रहा था। वहाँ खड़े आदमियोंने उसको आते देखा तो जैसे कबूतरको पकड़ते हैं, ऐसे ऊपरसे बड़ा कपड़ा डालकर पकड़कर उठा लिया और घर ले आये। घरके भीतर मन्दिरमें वह दस दिनतक रही। बादमें उसने मेरेसे भागवत-सप्ताह-कथा सुनी। उस समय मेरेको उसने बताया कि दस दिनतक मेरे पास एक प्रकाश रहा। फिर धीरे-धीरे वह प्रकाश ऊपरकी ओर चला गया।

तात्पर्य है कि सती जान-बूझकर नहीं होती। जब उसको सत् चढ़ता है, तब वह सती होती है। उस समय वह जो बात कह देती है, शाप या वरदान दे देती है, वह सत्य होता है। अब समय बहुत गिर गया है, इसलिये आजकलके लोग इन बातोंको समझते नहीं। अगर किसानसे कोई कह दे कि तुम हवाई जहाज बनाओ तो वह कैसे बना देगा? जिस विषयको वह जानता ही नहीं, उसको क्या वह बता देगा? इसी तरह जो संसारमें रचे-पचे हैं, वे बेचारे धार्मिक और पारमार्थिक बातोंको क्या समझें? '**मायाको मजूर बंदो कहा जाने बंदगी**'!

९. शास्त्रीय विवादसे हानि

शास्त्रोंमें कहीं-कहीं आयी कुछ बातोंको लेकर प्रायः लोग अनेक शंकाएँ किया करते हैं। कुछ लोग उन बातोंको लेकर बड़ा विवाद खड़ा कर देते हैं। शास्त्रोंमें अनेक प्रकारकी बातें मिलती हैं, पर सब बातें हमारे मनके, हमारे सिद्धान्तके अनुकूल हों—ऐसा सम्भव नहीं है। उनमेंसे कुछ बातें प्रक्षिप्त भी हो सकती हैं, पर कौन-सी बात प्रक्षिप्त है और कौन-सी नहीं है—इसका निर्णय कौन करे? निर्णय करना असम्भव है। शास्त्रोंका निर्णय करना मनुष्यकी बुद्धिके बाहरकी बात है। वास्तवमें शास्त्रोंकी सब बातें सबकी समझमें आ भी नहीं सकतीं। अतः कोई बात हमारी समझमें न आये तो इसमें अपनी समझकी कमी न मानकर उस बातको ही सहसा गलत सिद्ध कर देना उचित नहीं है।

अपनेको समझदार मानकर अभिमान करनेवाले व्यक्ति ही विवाद खड़ा करते हैं। परन्तु जिनमें अपनी समझदारीका अभिमान नहीं है, जो शास्त्रकी कमी न मानकर अपनी समझकी कमी मानते हैं, वे कभी विवाद खड़ा नहीं करते। ऐसे व्यक्ति भविष्यमें शास्त्रकी बातको समझ भी सकते हैं। इसलिये शास्त्रकी बातोंको लेकर विवाद खड़ा करनेमें न हमारा हित है, न दूसरोंका हित है; न वर्तमानमें हित है, न परिणाममें हित है। उलटे लोगोंमें शास्त्रोंके प्रति अश्रद्धा पैदा हो जायगी, जिससे वे शास्त्रोंकी अमूल्य तथा हितकारक बातोंसे वंचित रह जायँगे!

इतिहासके आधारपर सत्यका निर्णय नहीं हो सकता। कारण कि उस समय समाजकी क्या परिस्थिति थी और किसने किस

परिस्थितिमें क्या किया और क्यों किया, किस परिस्थितिमें क्या कहा और क्यों कहा—इसका पूरा पता नहीं चल सकता। इसलिये इतिहासमें आयी अच्छी बातोंसे मार्गदर्शन तो हो सकता है, पर सत्यका निर्णय विधि-निषेधसे ही हो सकता है। अतः हमें क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये—इस विषयमें इतिहासको प्रमाण न मानकर शास्त्रके विधि-निषेधको ही प्रमाण मानना चाहिये। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

(गीता १६। २४)

'तेरे लिये कर्तव्य-अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है—ऐसा जानकर तू इस लोकमें शास्त्रविधिसे नियत कर्तव्य-कर्म करनेयोग्य है, अर्थात् तुझे शास्त्रविधिके अनुसार कर्तव्य-कर्म करना चाहिये।'

इतिहाससे विधि प्रबल है और विधिसे भी निषेध प्रबल है।

शास्त्रीय विवादमें पड़ना साधकका काम नहीं है। वह इस विवादमें पड़ जायगा तो फिर साधन कब करेगा? वास्तवमें जो अपना कल्याण चाहते हैं, जिनमें श्रद्धा-विश्वासकी प्रधानता है, वे शास्त्रीय विवादमें नहीं पड़ते। शास्त्रोंका निर्णय करना कठिन है, पर अपना कल्याण करना सुगम है! जैसे मनुष्य किसी सरोवरके जलसे अपनी प्यास तो बुझा सकता है, पर पूरे सरोवरका जल ग्रहण करना उसके वशकी बात नहीं है, ऐसे ही मनुष्य शास्त्रोंकी बातोंसे अपना कल्याण तो कर सकता है, पर शास्त्रोंकी सब बातोंको समझना, उसका निर्णय करना उसके वशकी बात नहीं है। आजतक बड़े-बड़े विद्वान्, आचार्य भी इसका निर्णय नहीं कर सके। इसलिये साधकके लिये इस

विवादमें न पड़ना ही बढ़िया है। अगर वह उनका निर्णय करनेमें लगेगा तो इससे लाभ तो कुछ होगा नहीं, पर समय अवश्य बरबाद हो जायगा। आजकल कहाँ इतना समय है? कहाँ इतना ज्ञान है? कहाँ इतनी बुद्धि है? कहाँ इतनी सामर्थ्य है? कहाँ इतनी योग्यता है? इसलिये सन्तोंने ठीक ही कहा है—

जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार॥

(मानस, बाल० ६)

तेरे भावैं जो करौ, भलौ बुरौ संसार।
'नारायन' तू बैठि के, अपनौ भुवन बुहार॥

भगवान्‌ने भी गीतामें शास्त्र-जालको 'श्रुतिविप्रतिपत्ति' कहा है[१]। इसलिये शास्त्रोंमें कोई बात प्रक्षिप्त दीखे अथवा अपनी समझमें न आये, उस बातको निकाल देना अनधिकार चेष्टा है और बड़ी हानिकी बात है। साधकके लिये यही उचित है कि वह शास्त्रीय विवादमें न पड़े और जो बात उसको निर्विवाद दीखे, उसके अनुसार आचरण करे[२] और जो बात विवादास्पद दीखे,

---

१. श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥

(गीता २।५३)

'जिस कालमें शास्त्रीय मतभेदोंसे विचलित हुई तेरी बुद्धि निश्चल हो जायगी और परमात्मामें अचल हो जायगी, उस कालमें तू योगको प्राप्त हो जायगा।'

२. वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

(मनु० २।१२)

'वेद, स्मृति, सदाचार और (अपनेमें निष्कामभाव तथा मात्र जीवोंके हितकी दृष्टिसे) जो अपनेको ठीक जँचे—ये चार धर्मके साक्षात् लक्षण हैं।'

उसको छोड़ दे। जैसे, परीक्षामें चतुर विद्यार्थी निर्विवाद प्रश्नोंका उत्तर पहले लिखता है, पीछे विवादास्पद, प्रश्नोंपर विचार करता है। अगर वह पहले ही विवादास्पद प्रश्नोंको लेकर बैठ जायगा तो समय निकल जायगा और वह फेल हो जायगा।

अगर कोई अनुभवी सन्त-महापुरुष दीखे तो उसकी आज्ञाके अनुसार अपना जीवन बनाना सबसे बढ़िया है। सन्त-महापुरुषोंके वचनोंमें भी परस्पर मतभेद होता है; क्योंकि वे वही बात कहते हैं, जो उस समयके अनुसार आवश्यक हो। इसलिये उनकी बातोंमें भी जो बात निर्विवाद हो, उसको अपनाना चाहिये; जैसे—नामजप, भगवत्स्मरण, सेवा, बुराईका त्याग, किसीका अहित न करना आदि निर्विवाद बातें हैं, जो सब समय पालन करनेयोग्य हैं।

शास्त्रोंमें अनेक देवताओं तथा उनकी उपासनाओंका वर्णन है; क्योंकि सभी मनुष्योंकी समान रुचि, श्रद्धा-विश्वास एवं योग्यता नहीं होती। सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुणकी तारतम्यतासे मनुष्योंकी रुचि, श्रद्धा-विश्वास और योग्यता अलग-अलग होते हैं। इसलिये उनकी उपासनाएँ भी अलग-अलग होती हैं। जैसे भूख सबकी एक होती है और तृप्ति भी सबकी एक होती है, पर भोजनकी रुचि अलग-अलग होनेसे भोजनके पदार्थ भी अलग-अलग होते हैं, ऐसे ही उपास्य-तत्त्वकी अप्राप्तिका दुःख और प्राप्तिका आनन्द सबमें एक होनेपर भी उपासनाकी रुचि अलग-अलग होती है। वास्तवमें उपास्य-तत्त्व एक ही है। एकतामें अनेकता और अनेकतामें एकता हिन्दू-संस्कृतिकी विशेषता है। जैसे शरीरके अवयव अनेक होनेपर भी शरीर एक ही होता है, ऐसे ही उपास्यदेव अनेक होनेपर भी उपास्य-तत्त्व एक ही होता है।

अनेक उपास्यदेव होनेपर भी साधकको निष्ठा एकमें ही होनी चाहिये। अगर वह अनेक उपासना करेगा तो उसकी एक निष्ठा नहीं होगी और एक निष्ठा हुए बिना सिद्धि नहीं होगी। इसी कारण शास्त्रोंमें जहाँ जिस देवता, तीर्थ आदिका वर्णन हुआ है, वहाँ उसीको सर्वोपरि बताया गया है, जिससे मनुष्यकी निष्ठा एकमें ही हो। अगर वह अपने साध्यको सर्वोपरि नहीं मानेगा तो उसका साधन सिद्ध नहीं होगा।

जैसे पतिव्रता स्त्री पतिके सम्बन्धसे सबका आदर-सत्कार करती है, पर उसकी निष्ठा पतिमें ही होती है, ऐसे ही गृहस्थका धर्म है कि वह समय-समयपर (तिथि-त्यौहारपर) सब देवताओंका पूजन करे, आदर करे, पर निष्ठा एककी ही रखे। कुछ लोग अनेक देवी-देवताओंकी उपासना आरम्भ कर देते हैं, पर जब उनके मनमें एक ही देवताकी उपासनाका विचार आता है, तब अन्य देवताओंकी उपासना छोड़नेमें उनको भय लगता है कि कहीं देवता नाराज न हो जायँ, हमारी हानि न कर दें। वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। यदि उद्देश्य कल्याणका हो और निष्कामभाव हो तो एककी उपासना करनेसे दूसरे नाराज नहीं होंगे; क्योंकि मूलमें उपास्य-तत्त्व एक ही है। अनेककी उपासना करनेसे सकामभावकी भी पूर्ति होनी कठिन है। अतः साधकका इष्ट एक ही होना चाहिये।

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं नो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥

(हनुमन्नाटक १।३)

'शैव शिवरूपसे, वेदान्ती ब्रह्मरूपसे, बौद्ध बुद्धरूपसे,

प्रमाणकुशल नैयायिक कर्तारूपसे, जैन अर्हन्‌रूपसे और मीमांसक कर्मरूपसे जिसकी उपासना करते हैं, वे त्रैलोक्याधिपति श्रीहरि हमें वाञ्छित फल प्रदान करें।'

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव॥

(शिवमहिम्न० ७)

'हे प्रभो! वैदिकमत (ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद), सांख्यशास्त्र, योगशास्त्र, शैवमत, वैष्णवमत आदि विभिन्न मत-मतान्तर हैं; इनमें 'हमारा मत उत्तम, लाभप्रद है'—इस प्रकार रुचियोंकी विचित्रता (रुचिभेद) के कारण अनेक सीधे-टेढ़े मार्गोंसे चलनेवाले मनुष्योंके लिये एकमात्र प्रापणीय स्थान आप ही हैं। जैसे सीधे-टेढ़े मार्गोंसे बहती हुई सभी नदियाँ अन्तमें समुद्रमें ही पहुँचती हैं, उसी प्रकार सभी मतावलम्बी अन्तमें आपके पास ही पहुँचते हैं।

आकाशात्पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम्।
सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रतिगच्छति॥

(लौगाक्षिस्मृति)

'जैसे आकाशसे गिरा हुआ जल समुद्रमें ही जाता है, ऐसे ही सम्पूर्ण देवताओंको किया गया नमस्कार परमात्माके पास ही जाता है।'

॥ श्रीहरि: ॥

परम श्रद्धेय स्वामी रामसुखदासजीके कल्याणकारी साहित्य

कोड	पुस्तक
465	साधन-सुधा-सिन्धु (४३ पुस्तकें एक ही जिल्दमें)
1675	सागरके मोती
1598	सत्संगके फूल
1633	एक संतकी वसीयत
400	कल्याण-पथ
401	मानसमें नाम-वन्दना
605	जित देखूँ तित तू
406	भगवत्प्राप्ति सहज है
535	सुन्दर समाजका निर्माण
1485	ज्ञानके दीप जले
1447	मानवमात्रके कल्याणके लिये
1175	प्रश्नोत्तर मणिमाला
1247	मेरे तो गिरधर गोपाल
403	जीवनका कर्तव्य
436	कल्याणकारी प्रवचन
405	नित्ययोगकी प्राप्ति
1093	आदर्श कहानियाँ
407	भगवत्प्राप्तिकी सुगमता
408	भगवान्से अपनापन
861	सत्संग-मुक्ताहार
860	मुक्तिमें सबका अधिकार
409	वास्तविक सुख

कोड	पुस्तक
1308	प्रेरक कहानियाँ
1408	सब साधनोंका सार
411	साधन और साध्य
412	तात्त्विक प्रवचन
414	तत्त्वज्ञान कैसे हो? एवं मुक्तिमें सबका समान अधिकार
410	जीवनोपयोगी प्रवचन
822	अमृत-बिन्दु
821	किसान और गाय
417	भगवन्नाम
416	जीवनका सत्य
418	साधकोंके प्रति
419	सत्संगकी विलक्षणता
545	जीवनोपयोगी कल्याण-मार्ग
420	मातृशक्तिका घोर अपमान
421	जिन खोजा तिन पाइयाँ
422	कर्मरहस्य
424	वासुदेवः सर्वम्
425	अच्छे बनो
426	सत्संगका प्रसाद
1733	संत-समागम
1019	सत्यकी खोज
1479	साधनके दो प्रधान सूत्र

कोड	पुस्तक	कोड	पुस्तक
1035	सत्यकी स्वीकृतिसे कल्याण	433	सहज साधना
1360	तू-ही-तू	444	नित्य-स्तुति और प्रार्थना
1434	एक नयी बात	435	आवश्यक शिक्षा
1440	परम पितासे प्रार्थना	1072	क्या गुरु बिना मुक्ति नहीं?
1441	संसारका असर कैसे छूटे?	515	सर्वोच्चपदकी प्राप्तिका साधन
1176	शिखा (चोटी) धारणकी आवश्यकता और......	438	दुर्गतिसे बचो
431	स्वाधीन कैसे बनें?	439	महापापसे बचो
702	यह विकास है या...	440	सच्चा गुरु कौन?
589	भगवान् और उनकी भक्ति	729	सार-संग्रह एवं सत्संगके अमृत-कण
617	देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम	445	हम ईश्वरको क्यों मानें?
434	शरणागति	745	भगवत्तत्त्व
770	अमरताकी ओर	632	सब जग ईश्वररूप है
432	एकै साधे सब सधै	447	मूर्तिपूजा-नाम-जपकी महिमा
427	गृहस्थमें कैसे रहें?		

गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित कुछ साधन-भजनकी पुस्तकें

कोड	पुस्तक	कोड	पुस्तक
052	स्तोत्ररत्नावली—सानुवाद	140	श्रीरामकृष्णलीला-भजनावली
819	श्रीविष्णुसहस्रनाम—शांकरभाष्य	142	चेतावनी-पद-संग्रह
207	रामस्तवराज—(सटीक)	144	भजनामृत—६७ भजनोंका संग्रह
211	आदित्यहृदयस्तोत्रम्	1355	सचित्र-स्तुति-संग्रह
224	श्रीगोविन्ददामोदरस्तोत्र	1214	मानस-स्तुति-संग्रह
231	रामरक्षास्तोत्रम्	1344	सचित्र-आरती-संग्रह
1594	सहस्रनामस्तोत्रसंग्रह	1591	आरती-संग्रह—मोटा टाइप
715	महामन्त्रराजस्तोत्रम्	208	सीतारामभजन
054	भजन-संग्रह		